अनुक्रम

'प्रसाद' जी की मृत्यु एक बिजली की तरह मुझ पर—हिंदी-साहित्य पर गिरी है। उनकी मृत्यु के साथ हिंदी की सर्वोत्तम पौरुषवान और बौद्धिक प्रतिभा हमारे बीच से चली गई। उनकी गहन मर्यादा उनकी थी; दूसरा उसे छू नहीं सकता। इसलिए यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि उनकी मृत्यु से हिंदी में जो स्थान खाली हुआ है, उसके भरने की कोई आशा नहीं है।

× × ×

आज जब हिंदी-साहित्य में एक भयंकर उल्कापात हो गया है और जब वह व्यक्ति जो, उस जगह से दूर जहाँ प्रचार की हाट लगती है, उसे चुपचाप अपनी सर्वांगीण प्रतिभा से निरन्तर शक्तिमान बना रहा था, पिछली देवोत्थान एकादशी के दिन, देवताओं के उस जागरण काल में, हमसे बिछुड़ गया, तब बहुत सी बातें मन में आती हैं। 'प्रसाद' जी के जीवन में हमारे साहित्य—विशेषतः काव्य का बीसवीं शताब्दी का इतिहास ही अभिव्यक्त है। वह आधुनिक हिंदी काव्य के पिता थे और हिंदी में शक्ति और आनंद की समृद्धि एवं अर्चना जैसी उनके

काव्य में मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। जिस धारणा एवं कल्पना पर उनके काव्य का आधार है वह अत्यन्त चेतन, मानवी तथा विशाल है। उनके काव्य में उत्तरोत्तर मानवता के विकास की कल्पना स्पष्ट होती गई है और एक स्वस्थ वातावरण उत्पन्न होता गया है। उन्होंने हमें मानवता का एक दिव्य पर संतुलित, श्रद्धामय पर बौद्धिक दृष्टिकोण प्रदान किया है। उन्होंने इस स्वस्थ मानवता के अभिषेक में कला के महान् संदेश और कार्य (role) की दीक्षा हमें दी है।

इस व्यापक दृष्टिकोण से उनके काव्य और जीवन की समीक्षा की आवश्यकता का अनुभव मैं एक युग से कर रहा था। सबसे पहले मुज़फ्फरपुर के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में मुझे यह अनुभव हुआ कि हमारे आचार्यों को भी हिंदी काव्य की धारा के विषय मे कितना अज्ञान है। उसी समय मैंने आधुनिक हिंदी के श्रेष्ठ कवियों पर एक लेख-माला लिखने का निश्चय किया। पहला लेख 'प्रसाद' जी पर तभी लिखा गया और 'विशाल भारत' में प्रकाशनार्थ भेजा गया। किंतु इस लेख में रवीन्द्रनाथ के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा थी। फिर 'विशाल भारत' के संपादक श्रीबनारसीदास जी चतुर्वेदी भी उन दिनों आधुनिक हिंदी काव्य के कुछ वैसे प्रेमी न थे—उन दिनों ऐसी कविताएँ उनकी समझ में न आती थीं। अब तो ज़माना बदल गया है; हिंदी काव्य ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया है और अब चतुर्वेदी जी न केवल ऐसी कविताएँ समझते और छापते हैं वरन् उनके प्रति बड़े उत्सुक रहते है और किसी-किसी से लिए विदेशों से सिर्फ़ सुनने के लिए यहाँ आने की तैयारी अपने अन्दर पाते हैं।......
पर तब यह बात नहीं थी इसलिए वह लेखमाला वहीं रह गई।

उसके कुछ ही दिनों बाद देश में आँधी आई। गांधी जी के प्रबल आत्म-विश्वास ने भारतीय राष्ट्र को एक जीवित और सन्नद्ध सिपाही की भाँति युद्ध के मैदान मे खड़ा कर दिया। कभी जेल में, कभी बाहर। राजनीति का अव्यवस्थित एवं गतिशील जीवन। शुद्ध काव्य पर विचार करने का वह समय न था। इस तरह समय निकलता गया। बीच बीच में कुछ लेख लिखे और वह प्रकाशित भी हुए। १९३७ में मुझे जब किंचित् अवकाश मिला तो फिर पुराना निश्चय दृढ़ होने लगा। मैंने 'प्रसाद' जी पर फिर से लिखना शुरू किया। पुस्तक आधी ही लिखी गई थी कि उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु से चोट तो लगी पर कर्तव्य को प्रेरणा भी मिली। फलतः आज यह पुस्तक प्रकाशित होकर पाठकों के सामने है।

इस पुस्तक में केवल कवि 'प्रसाद' का निरूपण है। काव्य की समीक्षा में कवि के मानस में प्रवेश कर उसके साथ-साथ चलने की आवश्यकता पड़ती है और निजी इच्छा-अनिच्छा से ऊपर उठना पड़ता है। यह एक बड़ा ही कठिन काम है। हिंदी में समीक्षा-साहित्य यों भी बहुत कम है और जो है उसे भी बहुत उच्च कोटि का नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्था में मुझे अपना मार्ग भी स्वयं ही बनाना पड़ा है। मै कहाँ तक सफल हुआ हूँ, यह नहीं कह सकता पर इतना कह सकता हूँ कि मैंने अपने प्रति और कवि के प्रति सच्चाई और ईमानदारी का पालन करने की पूरी चेष्टा की है।

यदि समय और सुविधा मिले तो मेरा विचार मैथिलीशरण, माखनलाल, निराला, पंत, बच्चन, महादेवी इत्यादि कवियों तथा प्रेमचंद

जैसे गद्य-लेखकों पर भी स्वतंत्र समीक्षा-पुस्तकें लिखने का है। पर कौन जाने भविष्य के गर्भ में क्या है और कब मुझे अपने विचार को पूर्ण करने की सुविधा मिलेगी ?

पुस्तक एक ओर लिखी जाती रही है और दूसरी ओर छपती रही है। इसके प्रकाशन में मेरे मित्र श्रीगणेश जी पांडेय ने मुझे हर प्रकार की सुविधा दी और शीघ्र से शीघ्र पुस्तक छापने का प्रबंध कर दिया। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

हरिजन-सेवक-संघ
किंग्सवे, दिल्ली
वसंत पंचमी, १६६४

—श्री रामनाथ 'सुमन'

विषय-मालिका

जयशंकर 'प्रसाद' जी

जन्म : माघ शुक्ल १२ सं० १९४६ । मृत्यु : कार्तिक शुक्ल १२ सं० १९९४

[१]

परिचय

आधुनिक हिंदी कविता के प्रकाशमान रत्न 'प्रसाद' जी को ज्ञान और साहित्य के सभी क्षेत्रों में यश मिला है। क्या नाटक, क्या कहानी और उपन्यास, क्या गीति-काव्य और महाकाव्य, क्या इतिहास और निबन्ध—सब उनकी प्रतिभा से पवित्र एवं पुष्ट हुए हैं। एक ओर उनकी कविताएँ साहित्य के वृद्ध गुरुजनों और आचार्यों के समीप समादृत हुई हैं, तो दूसरी ओर उन्होंने नवीन प्रणाली के अनेक कवियों को मार्ग दिखाया है। उनके नाटक कालेजों की उच्च कक्षाओं में पढ़ाये जाते हैं और हिंदी में वह पहले ग्रंथकार हैं जिनके नाटकों पर विस्तार से आलोचना हुई है तथा दो पुस्तकें लिखी गई हैं। हिंदी के कथा-क्षेत्र में वह एक नवीन शैली के प्रवर्तक हैं। इन बातों से उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का कुछ अंदाज़ लगाया जा सकता है। यद्यपि साहित्य-क्षेत्र में दो कलाकारों की तुलना करना एक ख़तरनाक काम है, तथापि मैं अपने एक मित्र (जो स्वयं एक प्रतिभाशाली कवि हैं) के इन शब्दों में सत्य का बहुत बड़ा अंश पाता हूँ कि "प्रसाद जी हिंदी के रवीन्द्रनाथ थे।" प्रतिभा और अनुभूति की मात्रा में अंतर हो सकता है; पर जैसे रवीन्द्रनाथ ने नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता, निबन्ध सभी कुछ सफलता के

साथ लिखा है, वैसे ही 'प्रसाद' जी ने भी साहित्य के सभी क्षेत्रों को उदारतापूर्वक अपनी प्रतिभा का दान किया है। निस्संदेह मेरा तात्पर्य रवीन्द्रनाथ से उनकी तुलना करने या दोनों को समकक्ष सिद्ध करने का नहीं है। मैं तो इतना ही कहता हूँ कि दोनो की प्रवृत्तियों में बहुत अधिक समता दिखाई पड़ती है।

ऐसे कुशल रचनाकार की रचनाओं पर विस्तार के साथ विवेचना एवं संतुलनयुक्त (balanced) विचार करने और अनेक दृष्टियों से उनकी समीक्षा करके उनका मूल्य आँकने की बहुत ही अपर्याप्त चेष्टा हिंदी में हुई है।

साहित्य-समीक्षा की जटिलता

यह मानना पड़ेगा कि साहित्य-समीक्षा न केवल एक कठिन काम है वरन् एक जटिल समस्या भी है। साहित्य का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। जो भी जीवित साहित्य है, उसमें जीवन का प्रकाश है। साहित्य संस्कृति का निर्माता है और उसका प्रकाशक भी है। उससे व्यक्तित्व का प्राणोन्मेष होता है। उसे किसी प्रकार जीवन से भिन्न नहीं किया जा सकता, और यदि कभी ऐसा हो जाता है तो वह केवल मनोविनोद का—दिलबहलाव का साधन मात्र रह जाता है; उसकी प्रेरणाएँ निर्जीव पड़ जाती हैं और उसकी अन्तः-शक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। इसीलिए किसी रचना को रचनाकार के व्यापक जीवन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। व्यापक जीवन से मेरा तात्पर्य रचनाकार की उस अनुभूति से है जिसमें उसके

व्यक्तिगत जीवन का, निजी सुख-दुःख का, समाज और मानवता के सतत प्रवाहशील सुख-दुःख और जीवनमयी सवेदनाओं के साथ समन्वय और सामञ्जस्य होता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि साहित्य-समीक्षा एक जटिल समस्या भी है। जीवन किसी रासायनिक संश्लेषण की क्रिया-मात्र नहीं है। उसे समझने के लिए न जाने कितने संस्कारो, कितनी अनुभूतियो और समाज एवं राष्ट्र के कितने विचार-क्रमों के घात-प्रतिघात में से गुज़रना पड़ता है। फिर रचनाकार के जीवन-क्रम का साहित्य में जो प्रकाश पड़ता है, वह भी शैली, समय की गति एवं भाषा की व्यंजना-शक्ति के अनुसार कई रंगों में सामने आता है। इसलिए बहुत बार तो सुलझाते-सुलझाते यह समस्या और भी जटिल हो जाती है।

मैं जब 'प्रसाद' जी पर आलोचना लिखने जा रहा हूँ तब ये सभी बातें मेरे ध्यान में हैं। मैंने अपने विवेक को बार-बार तौला है और बार-बार हृदय की दुर्बलता से प्रश्न करता रहा हूँ कि मित्रता का पक्षपात मुझे वहाँ लुभा तो न लेगा जहाँ समालोचक का न्याय ही प्रधान होना चाहिए। इस माप-तौल में मैंने अपने जीवन के अनेक वर्ष बिता दिये हैं और अंत में अपने को समालोचना लिखने के लिए तैयार कर पाया हूँ। मैं यह दावा नहीं करता कि मेरी निजी सहानुभूति मुझे इधर-उधर न उड़ा ले जायगी; केवल आशा दिला सकता हूँ कि मैं जान-बूझकर विवेक को भावना की आँधी में उड़ न जाने दूँगा।

× × ×

काव्यमय जीवन

हिंदी कविता में आज जो नई लहर आ रही है, जो आंतरिक उच्छ्वास हमारी वाटिका के फूलों और बुलबुलों के कलेजे छूकर वातावरण में उनकी अनुभूति के पराग की धूल उड़ा रहा है, जिसने आज शतशः युवकों में—जो अपनी गति और अपने जीवन के प्रवाह में विस्मृत-से बहे जा रहे थे—एक स्वप्न, एक संदेश और सबसे अधिक एक बौद्धिक प्रेरणा और उत्प्रेक्षण भर दिया, उसे—जब बहुत थोड़े लोग इन बातों को समझते थे तब से—ठेस दे-देकर समष्टिगत अनुभूति का रूप देनेवालों में शायद जयशंकर 'प्रसाद' पहले आदमी हैं। आज से लगभग छब्बीस वर्ष पहले उनके 'प्रेम-पथिक' ने साहित्य की सूनी पगडंडी पर खड़े होकर गाया था—

> इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना;
> किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।

तब से आज तक वह 'प्रेम-पथिक'—'जिसके आगे राह नहीं'—भारती के अनंत से मिलने के लिए, एक अजीब मस्ती के साथ, चलता ही रहा और आज, वहाँ पहुँच गया, जिसके आगे राह नहीं रह गई है। 'जिसके आगे राह नहीं'—वही चिरंतन है, वही सत्य है, और निश्चय ही इस चिरंतन का पथिक भी छोटे-से दायरे में नहीं बाँधा जा सकता। इस बीच, तब से अब तक, मातृचरणों में जीवन के सुमन समर्पित करनेवाले उपासकों में, मौलिकता और कल्पना की व्यापकता की दृष्टि से, वह—'प्रेम-पथिक' के स्रष्टा—सबसे आगे

रहे हैं। जयशकर 'प्रसाद' न केवल कवि, वरन् हिंदी के श्रेष्ठ मौलिक नाटककार, सुंदर कहानी-लेखक, बौद्ध संस्कृति एवं इतिहास के पंडित तथा दर्शन के अच्छे जानकार थे। उनकी इतिहास-सम्बन्धी खोजों से लोग साधारणतः परिचित नहीं; पर जो उन्हें जानते हैं, वही समझ सकते हैं कि उनमें अनेक धाराओं का कैसा अपूर्व समिश्रण था।

गुण-दोष

यों तो जयशंकर 'प्रसाद' हिन्दी के सर्वप्रथम मौलिक कहानी-लेखक*, सर्वप्रथम रूप-नाट्यकार †, एवं भिन्नतुकात कविता के हिन्दी में सर्वप्रथम कवि थे, परतु उनका कवि, उनके नाटककार एवं कथाकार की अपेक्षा, सब जगह प्रधान है। अन्वेषण-सम्बन्धी लेखों को छोड़कर और कहीं भी वह अपने अंतर के कवि को छिपा नहीं सके हैं। एक दृष्टि से देखें तो इसे उनकी कमज़ोरी भी ,कह सकते हैं। रवीन्द्रनाथ जब कहानी लिखते हैं तब कोई यह नहीं कह सकता कि इसे कोई कवि लिख रहा है। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। सरल और मुहाविरेदार बॅगला लिखने में कोई उनका मुक़ाबला नहीं कर सकता। 'आँख की किरकिरी' ‡ यद्यपि मानव-हृदय के दुर्गम स्थलों को अत्यत स्वाभाविक रूप में हमारे सामने रखती है तथापि उसमें कहीं 'गीतांजलि'-कार के दर्शन नहीं होते। जयशकर 'प्रसाद' मे

* देखिए—'छाया'। † देखिए—'कामना'। ‡ रवीन्द्रनाथ का एक उपन्यास।

यह बात नहीं है। वह कविता से—काव्य की सुकुमार पर वास्तविक भावनाओं से सर्वत्र ओतप्रोत हैं। उनकी भाषा और शैली कोमल कलियों से लदी उन वल्लरियों की याद दिलाती है जो सदाबहार की सुगंध से भारावनत हैं। यह बारहमसिया गुलाब है, जो हर ऋतु और क्षेत्र में अपने एक विशेष रंग में प्रकट है। बहुत करके यह दोष ही इस कलाकार का गुण भी है और अनेक धाराओं के बीच भी उसकी श्रेष्ठ बौद्धिक स्थिति को प्रकाशित करता है। क्योंकि यह जीवन में एक विशेष प्रवाह—एक धारा होने की सूचना देता है।

प्रथम प्रेरणा

काशी के एक प्रतिष्ठित, धनी और उदार घराने में जयशकर 'प्रसाद' का जन्म हुआ था। इनके दादा के समय से ही कवियों, गायकों एवं कलाविदों का इनके यहाँ प्रायः जमघट रहता था। दादा इतने उदार थे कि सैकड़ों का दान करना अपवाद की अपेक्षा नित्य का नियम ही अधिक बन गया। प्रातःकाल से ही दीन-दुखियों और विद्यार्थियों की भीड़ लगनी आरंभ हो जाती। सुबह घर से निकलते कि यह सिलसिला शुरू हो जाता। शौचादि के लिए बाहर निकलते तो लोटा और वस्त्र तक न बचता। पिता भी कम न थे। हाँ, दादा की उदारता के साथ व्यवहार-बुद्धि भी उनमें थी। वह भी खूब हृष्ट-पुष्ट, कसरती और उदार थे। ऐसे कुल में जन्म पाकर, लड़कपन से करुणा, वैभव और कवि-समाज के वातावरण में रह कर धीरे-धीरे साहित्य और पद्य-रचना की ओर इनकी रुचि बढ़ी।

संवत् १६५७ ई० में, ग्यारहवें वर्ष के आरम्भ में, अपनी माता के साथ इन्होंने धाराक्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, व्रज, अयोध्या आदि की यात्रा की। धाराक्षेत्र की यात्रा में, सघन वनमय अमरकण्टक पर्वतमाला के बीच, नर्मदा की धारा पर, इनकी नाव हिलती-डुलती बढ़ रही थी तब प्रकृति की उस सुनसान उपत्यका में, विराट् की उस गोद में (जब चाँद पृथ्वी पर दूध के मटके लुढ़का रहा था) इनके हृदय में, पहली बार एक अस्पष्ट उद्वेलन का अनुभव हुआ। संस्कार और समाज की अनुकूलता तो थी ही, इस तथा इसके वर्षों बाद की महोदधि, भुवनेश्वर और पुरी की यात्रा में पर्वत और समुद्र की महानता एवं विशालता ने इनकी भावुकता को उत्तेजना दी। कल्पना के पंख उन्मुक्त हो गये। अपने मन पर अमरकण्टक की यात्रा के प्रभाव का यह अब तक अनुभव करते हैं।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इनके यहाँ बेनी, शिवदास तथा अन्य कितने ही कवि आया करते थे और अक्सर समस्यापूर्ति एवं कविता-पाठ का अखाड़ा आधी-आधी रात तक चलता रहता था। ठंडई बन रही है, रसगुल्ले और दूध-मलाई की हाँड़ियाँ भरी हैं; कहीं डंड-बैठक और कुश्ती का बाज़ार गर्म है तो कहीं सभा-चातुरी खिलखिला कर हँस रही है; कहीं कवित्त पर कवित्त चल रहे हैं तो कहीं पण्डितों से ज्ञान-चर्चा हो रही है। यह उन्नीसवीं शताब्दी के अलस वैभव का ढलता हुआ ज़माना, जो एक ओर आजकल की गति की अनिश्चितता से रहित था और दूसरी ओर औचित्य की सीमा से आगे चली गई फ़ुर्सत की व्यर्थता से लदा था, आख़िरी साँस

ले रहा था और ये फ़िसाने उसकी अंतिम चिनगारियों की भूलती-सी याद के बचे-खुचे चिन्ह-स्वरूप कहीं-कहीं सुनाई पड़ जाते हैं।

ऐसे मादक और मोहक वातावरण में रहकर कविताएँ सुनते-सुनते और समस्या-पूर्तियो की अनोखी नोक-झोक, कल्पना की उछल-कूद और शृङ्गार-प्रधान यान्त्रिक कवि-वैभव का 'जिमनास्टिक' देखते-देखते, इनके मन में भी स्फूर्ति हुई। दी हुई समस्याओ पर, घर के लोगों के भय से छिपाकर, कभी-कभी तुकबंदियाँ जोड़ा करते। एक बार जब, लगभग १५ वर्ष की अवस्था में, यह बात प्रकट हो गई तब कुछ लिखने लगे। इन्हीं दिनों माता का देहान्त हो जाने के कारण इनके हृदय पर बड़ी चोट लगी। विदग्धता बढ़ गई और पीछे अनेक धाराओ में फूट निकली एव साहित्योपवन को सींचने लगी।

संवत् १९६३ या ६४ में 'भारतेन्दु' में पहली बार इनकी एक कविता प्रकाशित हुई। उसके बाद जब 'इन्दु' निकला तब उसमें नियमित रूप से लिखने लगे। इसी पत्र में इनका सर्वप्रथम गद्य लेख निकला और पहली कहानी 'ग्राम' भी इसी में प्रकाशित हुई।

रचना-क्षेत्रों की विविधता

जिस 'प्रेम-पाथिक' द्वारा हिंदी-काव्य-सदन में एक नया एवं जीवनप्रद झोंका आया और जिसने पहली बार साहित्य के बंद

भिन्नतुकांत

दरवाज़े की कुडी खटखटाई, वह आज से लगभग ३२ वर्ष पूर्व ब्रजभाषा में लिखा गया था। लिखने के ७ वर्ष बाद, आज से २५ पहले (सवत् १९६८-६९) उसे कवि

ने खड़ी बोली में भिन्नतुकांत रूप दिया और इसी रूप में वह आज उपलब्ध है। यह 'पथिक' हिंदी में भिन्नतुकांत कविता के पथ पर चलनेवाला पहला यात्री था। यह हिंदी साहित्य में नवीन भावों और नूतन प्राणोन्मेष के सूर्योदय के पहले का ज़माना था। क्षितिज पर उषा की लालिमा तो नहीं दिखाई पड़ी थी परन्तु प्रभाती के एकाध झोंके अर्द्धजाग्रत पक्षियों को अपनी शीतल थपकियों से जगाने लगे थे। फिर भी निद्रा और तमिस्रा का राज्य था। प्राचीनता के प्रति अत्यधिक आसक्ति थी। जो कुछ प्राचीन है, जो कुछ इतने दिनो से चला आया है, वही अच्छा और उचित है—ऐसे भावों का प्राधान्य था। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने जिस स्वतंत्र प्रवृत्ति का परिचय दिया था, उसकी रक्षा भी उनके अनुयायियों से न हुई, विकास तो क्या होता ? जो 'नवीन' कहला सकता था, उसने हृदय के बाहर की दुनिया में अभी दर्शन नहीं दिया था, उससे लोग परिचित न थे। अतः जब उसका प्रथम अस्पष्ट दर्शन हुआ तो स्वागत के लिए किसी के हाथ न उठे, वरन् अधिकाश ने भय-संकुल उपेक्षा के भाव से उसे देखा; कुछ ने घृणा से मुँह भी फेर लिया और कुछ ने उसे महत्व देना व्यर्थ समझा। अनुदारता ने नवीनता की इस प्रकार अभ्यर्थना की! साहित्य के ठेले को धकेलकर ज़बर्दस्ती एक नये पथ पर लेजाने वाले इस मनस्वी युवक कवि के 'अनुचित साहस' और 'अनधिकार चेष्टा' पर लोगों की भवें तन गई। विरोध का तूफ़ान खड़ा हुआ। उसकी इस 'उच्छृंखलता के विष का अंदाज़ लगाने वाले वैद्यों ने साहित्य की नाड़ी टटोल कर कहा—"हाय,

इसने क्या किया ? हम लोगों ने अपने आँसुओं का 'सागर' पिला-पिला कर जिसका पेट बढ़ाया था और जिसके शृंगार में न जाने कितनी कुल-कामिनियाँ स्वाहा कर दी गईं; जिसकी रक्षा के लिए हमने जीवन की परवा न की, उसे कल के इस अज्ञान छोकरे ने विष पिला दिया !' उस विष को साहित्य का रोगी कैसे उगल दे, इसके लिए बड़े प्रयत्न किये गये। पर यह 'विष' रोगी को कुछ ऐसा रुचा कि वह 'नीलकण्ठ' बन गया, सब प्रयत्न धरे रह गये !

उस ज़माने की समालोचना भी क्या मज़ेदार होती थी ! गुण-दोष का गहरा विवेचन तो कौन करता है, हँसी-मज़ाक उड़ाना और दो-चार फब्तियाँ कस देना या फिर गुण-गान मे ज़मीन-आसमान के कुलावे मिला देना—यही उस समय की समालोचना थी और इस नमक-मिर्च मिली समालोचना में साहित्य की कुरुचिपूर्ण जिह्वा को ऐसा स्वाद आया कि अब तक उसका असर बना है, और आज भी समालोचना के डंडे चलाने वाले लेखक हिंदी के आदर्श समालोचक माने जाते हैं। जिस प्रवृत्ति ने आचार्य स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा का 'समालोचकाचार्य' की गद्दी पर अभिषेक किया, उसके प्रताप का उन दिनों—नूतन के जन्म काल में—भला क्या कहना था ? बड़े-बड़े लोग कविता के इस नन्हें उगते पौधे के ऊपर कलम-कुल्हाड़े लेकर खड़े हो गये।—'साहित्य क्षेत्र में भी अराजकता ?'—लोगों के नथने श्वास के तीव्र आवागमन से फूलने लगे। किसी ने कहा—'अभी कल का छोकरा, चला है कविता लिखने !' किसी ने कहा—"समतुकांत कविता में मेहनत पड़ती है न !" कोई-कोई, जो कविता

को भी जाति या वर्ण-विशेष की चीज़ समझते हैं और भारती के विशाल मंदिर में नूतन आगन्तुकों का प्रवेश अछूतों की भाँति निषिद्ध समझते हैं, ज़रा और आगे बढ़े और अपनी संस्कृति एव न्याय के दीवालियेपन को छिपा कर न रख सके।

मतलब यह कि सब तरह की अनुचित और बेढंगी बातें लेकर इस किशोर कवि का उस समय विरोध हुआ। रस के जिस सच्चे पूजक के मुँह से एक दिन निकला था—"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंग न च वयः'—उसकी आत्मा की इस समय क्या दशा हुई होगी!

पर प्रकृत प्रतिभा की गति जहाँ अनेक बार ऐसी बाधाओं से कुण्ठित हो जाती है, तहाँ वह कभी-कभी नर्मदा की भाँति चट्टानों को तोड़ती-फोड़ती दुर्गम एवं अनुदार स्थानों में भी अपने लिए जगह बना लेती है।

जिसके पास दुनिया को देने के लिए कुछ होता है उसके आगे विद्वत्ता और शुष्क तर्क को झुकना ही पड़ता है। वही यहाँ भी हुआ, और बाद में तो हमने आश्चर्य के साथ देखा कि उस ज़माने के कट्टर विरोधी इस 'उच्छृङ्खल' कवि की मित्रता से अपने को गौरवान्वित समझते थे।

× × ×

केवल कविता के क्षेत्र मे ही भारती के इस अमर पुत्र ने क्रांति की हो, ऐसा नहीं। उसमें सच्ची प्रतिभा थी, अतः उसने जो कुछ लिखा

वही उस समय, या आगे, आहत, अनुकरणीय हुआ। मेरा यह ख़्याल है कि वर्तमान समय में हिन्दी के किसी रचनाकार ने विविध विषयों की मौलिक रचनाओं के उतने फूल मातृ-मंदिर में न चढ़ाये होंगे जितने इस कवि ने अपनी कला-कुशल उँगलियों से चुन-चुन कर चढ़ाये हैं। भिन्नतुकात की भाँति ही उसने सबसे पहले मौलिक कहानियाँ लिखीं। उसके पहले 'सरस्वती' तक में (जो उस ज़माने के साहित्य की मर्यादा थी) ज़्यादातर कहानियाँ दूसरी भाषाओं से उधार ली जाती थीं। 'छाया' की गुलाम, मदनमृणालिनी, तानसेन आदि कहानियाँ, आज इस क्षेत्र में इतनी उन्नति हो जाने पर भी, दिल खींचती हैं और कलेजे में एक दर्द पैदा करती हैं; कुछ स्वाद मालूम पड़ता है। बाद में तो इस क्षेत्र में भी वह एक नये 'स्कूल'—नई प्रणाली—का निर्माण कर रहे थे। इन कहानियों को हम भावुकता में रँगी पर भावो की गहराई में डूबी, गद्य काव्य और कहानी के बीच की एक नई चीज़ कह सकते हैं। इनमें मनोवैज्ञानिक निर्देश और व्यंग की प्रधानता होती है। आश्चर्य यह है कि इनके ऊपर तो भावना का रंग है पर मूल में इनमें सच्चे वस्तुवाद का बौद्धिक स्पर्श है। 'बिसाती', 'प्रणय-चिन्ह' और 'स्वर्ग के खंडहर में' ऐसी ही कहानियाँ हैं। श्रीविनोद-शंकर व्यास और श्रीवाचस्पति पाठक इसी स्कूल के कहानी-लेखक हैं।

कहानियाँ

× × ×

'प्रसाद' जी हिंदी के सर्वश्रेष्ठ मौलिक नाटककार माने जाते हैं।

इनके अधिकांश नाटक कालेजों की उच्च कक्षाओं—इण्टर०, बी०ए०, एम०ए०—में पढ़ाये जाते हैं। अन्य क्षेत्रों की

नाटक

रचनाओं की भाँति इस क्षेत्र में भी इनके क्रम-विकास की गति स्पष्ट है। 'सजन' इनका सर्वप्रथम नाटक है, जो आजकल बाज़ार में नहीं मिलता—अप्राप्य है। इसके बाद विशाख, प्रायश्चित्त, राज्यश्री, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, और ध्रुव स्वामिनी। विचारपूर्वक देखें तो इसमें लेखक की प्रतिभा के विकास का क्रम स्पष्ट है। 'विशाख' से इनकी नाटक-लेखन-कला सीधे रास्ते पर आई है, और 'अजातशत्रु' तक पहुँचते-पहुँचते उसमें लड़कपन की सरलता के साथ यौवन के तेज के भी दर्शन होने लगते हैं। हिंदी में गौरवपूर्ण नाटकों की सृष्टि करनेवाले इस कवि की नाटक-सम्बन्धी प्रतिभा का 'अजातशत्रु' एक निश्चित रूप जनता के सामने रखता है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' कई दृष्टियों से 'अजातशत्रु' से भी आगे बढ़ जाता है। यह एक बड़ा ही भावपूर्ण नाटक है। इसमें न केवल कर्मकाडयुगीन हिंदू-संस्कृति के गुण-दोष का विश्लेषण है वरन् क्षुद्र और महान् के, संकुचित और उदार (व्यापक) के बीच होने वाले संघर्ष का सजीव चित्रण है जिसमें सत्य या महान् की जय है।

यों तो स्कदगुप्त और चंद्रगुप्त दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं और कई बातों में चंद्रगुप्त मुझे प्रसाद जी के सब नाटको में श्रेष्ठ मालूम हुआ है पर इसकी समीक्षा का यह अवसर नहीं है। यहाँ तुलना और आलोचना छोड़कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'प्रसाद'—

नाट्यकला का आदर्श 'कामना' मे विकीर्ण हुआ है। इसका यह अर्थ नहीं कि कामना सर्वश्रेष्ठ है; इसका अर्थ इतना ही है कि उनके अन्य नाटकों की अपेक्षा इसमें 'प्रसादत्व' अधिक है। यह उनकी नाटकीय प्रतिभा का सबसे वफ़ादार प्रतिनिधि है। यह 'एलीगरी' के परदे में विकास या मनुष्य के अंतर में सतत चलनेवाले वासनाओं के युद्ध से उत्पन्न समस्याओं की सुंदर 'सिम्बोलिक' समीक्षा है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनके नाटक हमारी प्राचीन संस्कृति के गहरे अध्ययन के परिणाम-स्वरूप लिखे गये हैं। इनके पीछे उनकी सदा चलने वाली खोज के पद-चिन्ह स्पष्ट दिखाई देते हैं। वह हिंदी में बौद्ध सभ्यता एवं संस्कृति के एक योग्यतम विद्यार्थी थे और इस विषय में उनका विशद अध्ययन और ज्ञान था। प्रसाद जी के मूल में जो ज्ञान था वह सदा अन्तिम सत्य को पाने के लिए विकल रहा। इसीलिए इतिहास में केवल घटनाओं की उलट-पुलट और छानबीन से ही वह संतुष्ट नहीं होते थे वरन् सस्कृति तथा दर्शन एवं आध्यात्म के गूढ़ सिद्धान्तो पर उन्हें कसते रहते थे। इधर अनेक वर्षों से वह इन्द्र के सम्बन्ध में खोज कर रहे थे, और फ़लतः जो 'इन्द्र' नाटक वह लिखने का विचार रखते थे वह जब लिखा जाकर प्रकाशित होता तब उनकी अन्वेषण-वृत्ति और ऐतिहासिक खोज का पता हिंदी संसार को कदाचित् कुछ अधिक लगता।

कविता के बाद नाटक प्रसाद जी की सर्वोत्तम कृति हैं। जैसा मै ऊपर लिख चुका हूँ, उनके अधिकांश नाटकों के कथानक बौद्ध

एव हिन्दू सभ्यता के मध्यकाल से लिये गये हैं। लड़कपन से ही इस ऐतिहासिक सुवर्ण-युग की ओर उनका विशेष झुकाव था। जब सारनाथ का सग्रहालय (म्यूज़ियम) बन रहा था, तब यह प्रायः उधर घूमने जाया करते थे। वहाँ के सिंहाली भिक्षु प्रज्ञासारथि से इनका ख़ूब वार्तालाप होता था। इस वार्तालाप और शिष्टवाद के कारण उधर इनकी विशेष अनुरक्ति हो गई। इनके नाटकों को ठीक-ठीक समझने और उनकी समीक्षा करने वालो के लिए बौद्ध काल, बौद्ध संस्कृति तथा हिंदू सभ्यता की विचारधाराओं का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करना ज़रूरी-सा हो गया है। बिना इसके उनकी भाषा का आनद तो लिया जा सकता है पर इन नाटकों में जो अतीत जीवित होकर बोलता है और वर्तमान के प्रति उसका जो एक संदेश है, उसे समझना और उसके महत्व का ठीक-ठीक अंदाज़ लगाना मुश्किल है

× × ×

'प्रसाद' जी के दो ही उपन्यास प्रकाशित हुए—ककाल और तितली। अनेक दृष्टियों से हिंदी-साहित्य में इन दोनों का विशेष महत्व है। ये उच्च वस्तुवादी कला के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इनमें लेखक ने समाज-निर्माण की कई समस्याओ का विश्लेषण किया है। कंकाल और तितली कुछ ऐसे प्रश्न हमारे सामने रखते हैं जो तीव्र व्यंगो की भाषा में पूछते हैं—'तुम्हारे पास इनका क्या जवाब है?' समाजशास्त्र की दृष्टि से दोनों, विशेषतः ककाल, पर गभीरतापूर्वक विचार करने की ज़रूरत है पर

उपन्यास

आश्चर्य है कि हमारे यहाँ उनका स्वागत भी जैसा होना चाहिए, नहीं हुआ। हिंदी-साहित्य की अविचारपूर्ण धाँधली मे कंकाल-जैसा उपन्यास-रत्न छिपता जा रहा है। आजकल हिंदी में धड़ल्ले से उपन्यास निकल रहे हैं और प्रकाशक प्रत्येक को 'हिंदी साहित्य में युगातर उपस्थित करनेवाला' और 'क्रातिकारी प्रकाशन' वताते हैं। किंतु मौलिकता को समझने और रचना का वास्तविक मूल्य आँकने की शक्ति ऐसी क्षीण हो गई है कि अच्छी रचना और लोकप्रिय रचना का अंतर ही जैसे लुप्त होता जाता है। हिंदी मे विक्टर यूगो और वाल्टर स्काट तो पैदा हो गये हैं, पर 'ला मिज़रेबल' और 'लेमरमूर की दुलहिन'* तथा 'आइवन हो' † दिखाई नहीं पड़ते हैं। इस सट्टी (बाज़ार) में जो जितना ही तेज़ चिल्लाता है, वह उतनी ही जल्दी अपना माल वेच लेता है। गभीरता, परख और समीक्षा का अभाव है। अच्छी चीजे ढेर मे ढक जाती हैं; विशेषता परिमाण के बोझ से दबती जाती है। 'ककाल' और 'तितली' ने जो कुछ हमारे सामने रक्खा, उसी में उनकी विशेषता है। वह हमें भला लगे या बुरा, उसका ढंग हमें प्रिय हो या अप्रिय, यह दूसरा सवाल है। कहना तो यह है कि उसके लेखक ने समाज की जो समस्याएँ हमारे सामने रक्खी हैं उनकी उपेक्षा न होनी चाहिए थी।

---

*विक्टर यूगो का उपन्यास। हिन्दी में इसके दो अनुवाद हुए हैं।

† वाल्टर स्काट का प्रसिद्ध उपन्यास।

इन दो उपन्यासों को लिखकर उपन्यास-क्षेत्र में भी 'प्रसाद' जी अपना एक विशेष स्थान बना गये हैं।

× × ×

साधारणतः लोग प्रसाद जी को कोमल कलाकार के रूप में ही जानने के आदी हैं। पर यह एक आश्चर्य की बात है कि जिस व्यक्ति ने कविता की क्यारियों को अपने अंतस्तल के
अन्वेषक के
रूप में
'आँसू' से सींचा है, जिसका हृदय 'झरना' बनकर वर्षों तक लगातार माता के चरणों को धोता रहा है और जो 'प्रेम-पथिक' के रूप में 'कानन-कुसुम' चयन करता हुआ भाव-समुद्र में 'लहर' का उठना देखता रहा है, वह इतिहास के उन शुष्क मरुस्थलों और टूटे-फूटे श्मशानवत् ढूहों में भी चक्कर काटता रहा है जो अतीत को वर्तमान से मिलाते और हमारे अंदर अनेक सुप्त स्मृतियों को जगाते हैं। इतिहास के खडहरों में भी उसी मस्ती से रमनेवाला यह कवि इस दृष्टि से भावना और विज्ञान के समन्वय की प्रतिमा बनकर साहित्य-जगत् में उपस्थित है। लड़कपन में लिखा हुआ उसका 'चन्द्रगुप्त मौर्य' जब हम देखते हैं, तो हमें यह समझते देर नहीं लगती कि प्रारम्भ से भावना और बुद्धि का इस कवि में अपूर्व समन्वय रहा है। 'प्राचीन आर्यवर्त्त और उसका प्रथम सम्राट'—जैसे गंभीर लेख के मननशील लेखक को जब हम 'नारी और लज्जा' के चित्रकार के रूप में देखते हैं, तो एक प्रकार का आश्चर्य होता है। पर वस्तुतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

प्रसाद जी की साहित्य-साधना का सम्पूर्ण आधार जीवन की एक श्रेष्ठ बौद्धिक धारणा पर आश्रित है।

जीवन और रचना पर अन्य प्रभाव

ऊपर लिखा जा चुका है कि बौद्ध-दर्शन और संस्कृति की इनके जीवन पर गहरी छाप पड़ी है। किशोरावस्था में श्रीदीनबन्धु ब्रह्मचारी नामक एक सज्जन इन्हें संस्कृत और उपनिषद् पढ़ाते थे। ब्रह्मचारी जी वेद एवं उपनिषद् के अच्छे ज्ञाता और सात्विक पुरुष थे। उनके सदाचारमय जीवन तथा उपनिषद् के शिक्षण का इनपर बहुत प्रभाव पड़ा। इनकी कविता में इस दार्शनिक भावानुभूति की छाया अनेक स्थलों पर स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इनका कुटुम्ब कट्टर शैव रहा है। बड़ा होने पर इन्होंने शैव-दर्शन का अध्ययन किया। इस विषय का उनका बड़ा ही गहन और मौलिक अध्ययन था। शैव तत्वज्ञान की आनंद-वृत्ति से ही उनके जीवन में इतनी स्फूर्ति रही है और दुनिया के प्रति एक उत्फुल्लता (Vivacity) का भाव है।

इस प्रकार इनके जीवन पर बौद्ध संस्कृति, उपनिषद्, दीनबंधु ब्रह्मचारी, दादा और बड़े भाई, शैव तत्वज्ञान, कवि-सत्संग, स्व० ब्रजचंद तथा अनेक कौटुम्बिक परिवर्तनों और मानसिक उथल-पुथल ने प्रभाव डाला है।

व्यक्तित्व का विश्लेषण

व्यक्ति की दृष्टि से (as a man) जयशंकर 'प्रसाद' एक उच्च कोटि के पुरुष थे। यहाँ व्यक्ति से मेरा तात्पर्य समाज की उस इकाई

या घटक ('यूनिट') से है जिसके द्वारा समाज का निर्माण और विकास होता है। वह कवि होने के कारण उदार, व्यापारी होने के कारण व्यवहारशील, पुराण-शास्त्र संस्कृत काव्य आदि के विशेष अध्ययन के कारण प्राचीनता की ओर झुके हुए, भारतीय आचारों एवं भारतीय सभ्यता के प्रति ममता रखने वाले तथा एक सीमा तक पाश्चात्य सभ्यता के गुणों के प्रशंसक थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में जन्म लेने और बीसवीं शताब्दी में विकसित होने के कारण उनके जीवन में उन्नीसवीं और बीसवीं—दोनों शताब्दियों के उपकरण (elements) दिखाई देते हैं। वह इनके बीच की चीज़ हैं। उन्नीसवीं शताब्दी ने उन्हें 'रोमास' के प्रति झुकाव, मस्ती, विलासितापूर्ण सरसता और झंझटों से यथासंभव अलग रहकर सामान्य सुख के साथ जीवन विताने के भाव प्रदान किये और बीसवीं शताब्दी ने उन्हें यौवन का प्रवाह, परिवर्तनोन्मुखी प्रवृत्ति, भारतीयता की ओर झुकाव, विदग्धता तथा अस्थिर वेदना का दान किया। प्रसाद जी को—मनुष्य की हैसियत से भी और कवि की हैसियत से भी—समझने, उनका विश्लेषण करने के समय इस बात को अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि वह दो युगों के संयुक्त उपकरणों (elements) की उपज (product) हैं। यद्यपि उन्होंने जो कुछ लिखा है, जो कुछ वह जीवन में बने हैं, वह सब बीसवीं शताब्दी की गोद में ही चरितार्थ हुआ है, तथापि इस यात्रा का सबल, इस निर्माण का संचय प्रधानतः उन्नीसवीं शताब्दी की ही किया है। इसीलिए प्रसाद जी हिंदी कविता के पुराने और नये स्कूल के बीच की कड़ी हैं। दो युगों के मध्य

विंदु—'टर्निंग प्वाइंट' हैं। यही कारण है कि दुनिया की नवीन हलचल के प्रति उनमें विरोध नहीं है पर प्राचीन की भाँति उसके प्रति आग्रह और प्रेम भी नहीं है। हिंदी-साहित्य-संसार में भी देखें तो मालूम होगा कि वह 'बीसवीं शताब्दी' के लानेवालों में मुख्य हैं पर बीसवीं शताब्दी के नहीं हैं। और, यही कारण है कि यद्यपि वह एक प्रकार से हिंदी कविता के नये स्कूल के जन्मदाता हैं, तथापि उसके प्रभाव और विस्तार के साथ वह दौड़ नहीं सके। नई धारा उनका सक्रिय नेतृत्व न पा सकी। नई हिंदी कविता की भागीरथी को परिश्रमपूर्वक हिंदी साहित्य के मैदान में वहा तो लाये, पर भगीरथ के समान ही उसके साथ अंत तक चल न सके; चुपचाप अलग बैठ कर, मस्ती के साथ देखनेवाले एक तमाशाई बन गये। धारा आगे चली गई और उनसे कम काम करने वालों, बहुत पीछे आनेवालों ने अवसर का उपयोग किया तथा उस हलचल के नेता बन गये।

जब हम आधुनिक भारतीय प्रगति के इतिहास के पन्ने उलटते हैं तो हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि सभी क्षेत्रों मे घटनाओं का यही क्रम रहा है। राजनीति, समाज-सुधार सर्वत्र घटनाएँ इसी क्रम से घटित हुई हैं। दादाभाई नौरोजी और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जिस राष्ट्रीय प्रवाह को भारतीय मूर्च्छना की दुर्गम तलहटियों एवं खाइयो से निकालकर आगे ले आये, गति तीव्र हो जाने पर उसी का नेतृत्व न कर सके। दूसरों ने मैदान हथिया लिया। इससे उनकी महत्ता तो कम नहीं होती, न इतिहास में उस दिव्य स्थान से उनको

इधर-उधर किया जा सकता है, जिसके वे अधिकारी हैं, पर इससे यह अवश्य मालूम पड़ता है कि उन्होंने उस प्रगतिशील आवेग का अदाज़ लगाने में भूल की, जो उन्हीं के भगीरथ प्रयत्नों से करवट लेने योग्य हुआ, अथवा अपने मन को इस नाटक में अभिनय करने के लिए वे राज़ी या तैयार न कर सके।

हाँ, यह ज़रूर है कि इस मनोवृत्ति के कारण नूतन और पुरातन के बीच वह ('प्रसाद') एक कड़ी बन गये हैं। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी की मिश्रित सृष्टि होने के कारण उन्हें पुराने ढग के वयोवृद्ध जन भी चाहते थे, और नये आगे बढ़े हुए नवयुवक भी। दोनों ही खींचते थे। इस तरह प्राचीन और नवीन के बीच वह एक प्रकार का 'समझौता' थे। परन्तु पुरातन और नूतन के बीच, जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, वह नूतन की ओर ही ज़्यादा झुके हुए थे। वह मार्ग बताने वाले थे पर नेता नहीं थे। वह उन्नीसवीं शताब्दी के मंद प्रवाह में जलक्रीड़ा का सुख लेनेवालों में थे, बीसवीं शताब्दी का प्रखर वेग, वर्षा की हहराती, उमड़ती नदी का भयंकर तोड उनके जीवन की गति के अनुकूल नहीं था। आज की गति और आतुरता, अस्थिरता और पग-पग पर झंझावात का ज़माना उन्होंने तब देखा जब उनकी नींव तैयार हो चुकी थी। इसीलिए उनमें गति की बडी कमी थी। वह झंझट मोल लेना पसंद नहीं करते थे। चट्टान के समान स्थिर रहकर वह प्रबल तूफ़ानी समुद्र की लहरों का उद्दाम आवेग देखते थे पर धारा को चीर कर अपना जहाज़ उत्साहपूर्वक आगे निकाल ले जाने और लोगो को पीछे-पीछे चले

आने के लिए पथ-निर्देश करने का साहस नहीं करते थे। उन्हें जन-समूह के सामने आना पसंद नहीं था। बहुत दिनों तक लगातार उन्हें सभा-सुसाइटियों के लिए खींचने की चेष्टा करके भी लोग असफल—या बहुत कम सफल—रहे। उनकी मस्ती सुस्ती के दर्जे तक बढ़ी हुई थी। निश्चय ही इसके व्यक्तिगत, मानसिक और बौद्धिक कारण भी थे पर बाद में तो यह आदत उनके लिये एक बोझ हो गई थी जिसे हटाने में वह कभी समर्थ नहीं हुए। साहित्य-सम्मेलन को जन्म देने के प्रस्तावकर्ताओं में यह भी थे, पर कभी सम्मेलन के किसी अधिवेशन में नहीं गये। प्रयाग तथा अन्य स्थानों में होनेवाले कई कवि सम्मेलनों के प्रधान चुने गये, लोगों ने कई तरह से दबाव डाला, पर व्यर्थ! सदैव 'असर-प्रूफ' सिद्ध होते रहे। उनकी 'अजगर करे न चाकरी' वाली मलूकदास की यह सुस्ती जहाँ एक सीमा तक उनकी निःस्पृह सेवा की द्योतक है वहाँ उसके कारण नवीन 'स्कूल' के कवियों को मार्गदर्शन न मिलने से साहित्य के समुचित विकास की कुछ क्षति भी हुई है।

---

[२]

कवि 'प्रसाद' : मनोवैज्ञानिक विकास

यह भी एक आश्चर्यजनक सत्य है कि खड़ी बोली के महाकवि 'प्रसाद' जी ने ब्रजभाषा को लेकर, कविता के क्षेत्र में प्रवेश किया; बीस वर्ष की अवस्था के पहले की अधिकांश रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं। 'चित्राधार' में इस काल की रचनाओं का संग्रह है। अधिकांश रचनाएँ 'इन्दु' में निकल चुकी हैं। सुभीते के ख़्याल से इन तथा इस काल की अन्य रचनाओं का जिक्र हम 'इंदु' काल का काव्य' कहकर करेंगे। 'चित्राधार' के 'पराग' खंड की प्रायः सभी कविताएँ प्रकृति-प्रेम को लेकर उद्भूत हुई हैं।

'चित्राधार'

जयशंकर 'प्रसाद' के हृदय में कवि का विकास ही प्राकृतिक भावोच्छ्वास को लेकर हुआ। अमरकंटक और महोदधि की कवि के शिशुत्व पर गहरी छाप दिखाई पड़ती है। यह स्वाभाविक था कि आरंभिक कविताओं में इस प्रकृति-दर्शन का प्रभाव पड़ता। वही हुआ है। लेकिन उपनिषद् के अध्ययन ने कवि के मस्तिष्क-पक्ष में पहले से ही एक दार्शनिक उत्कण्ठा जाग्रत कर दी थी। इस उत्कंठा के कारण ही प्रकृति-प्रेम उनकी कविताओं में एक जिज्ञासा के रूप में आता है। प्रकृति के विराट रूप को वह देखते हैं; फूलों में, नदियों में, तारों में उन्हें जो सौंदर्य दिखाई देता है, उसे देखकर

ही वह संतुष्ट नहीं हैं। कवि किसी प्रकार इस सौंदर्य में अपने को निमज्जित नहीं कर पाता है। व्यक्तित्व का विस्मरण नहीं होता और इसीलिए सौंदर्य में व्यक्तित्व प्रस्फुटित नहीं होता—सौंदर्य से अलग ही रहता है। दर्शक जबतक दृश्य में अपने को मिला न दे, तादात्म्य का अलौकिक आनंद वह नहीं प्राप्त कर सकता। पर इन रचनाओं में कवि का मस्तिष्क द्रष्टा बनकर अलग खड़ा है। वह प्रकृति की रमणीयता पर, उसकी शोभा पर मुग्ध अवश्य है, पर इस आकर्षण में वह अपने को ज्यों का त्यों, सुरक्षित और अलग रखता है। द्रष्टा की मुग्ध आँखों में प्रश्न की एक रेखा है। जो कुछ वह देखता है, उससे उसके हृदय में रस का आविर्भाव होता अवश्य है, पर उसकी मात्रा इतनी नहीं कि उसके मन-प्राण को डुबा दे। कवि का मस्तिष्क विद्यार्थी की तरह बार-बार विद्रोह करता है; वह पूछता है—"यह सब क्या है? यह किसका खेल चल रहा है? इसे कौन कर रहा है?"

इन प्रश्नों का उसे कोई समाधानकारक उत्तर नहीं मिलता। प्रश्न उसके दिमाग़ में गूँजकर रह जाते हैं। यह अतृप्त जिज्ञासा रसानुभूति में प्रकृति के साथ उसके हृदय का मेल नहीं होने बाधा देती। वह उसकी शोभा तक, रमणीयता तक ही रह जाता है। दोनों के बीच जिज्ञासा की दीवार खड़ी है। सौंदर्य का भाव विकसित और व्यापक नहीं हो पाता। दार्शनिक अलग, कवि अलग। दोनों का मिलन नहीं हुआ है—सामंजस्य भी नहीं हुआ है। दोनों मिलकर एक नहीं हुए; अलग-अलग बने हैं। इसीलिए कवि उतना उठ न सका, जितना उठ सकता था और जितना उठना

चाहिए था। उसकी दृष्टि ('विज़न') के सामने एक प्रश्न खड़ा है। अनुभूति का पक्षी पैरों की जंजीर के कारण भावाकाश मे इतनी दूर उड़ जाने में असमर्थ है जहाँ से वह दिखाई न पड़े—एकाकार हो जाय।

मेरे मित्र श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने, अपने एक लेख मे, ठीक ही लिखा है—"अँग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ की भाँति प्रकृति के प्रति उनका निसर्ग-सिद्ध तादात्म्य नहीं देख पड़ता। प्रत्येक पुष्प मे उन्हे वह प्रीति नहीं जो वर्ड्सवर्थ की थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीय नहीं। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नहीं करते। × × × × उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नहीं। वे सुन्दरता मे रमणीयता देखते हैं।······इस सुन्दरता के सम्बन्ध में उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदय-पक्ष है; जिज्ञासा उनका मस्तिष्क-पक्ष।"

किन्तु इस जिज्ञासा के कारण जहाँ कवि की सौंदर्यानुभूति में, रस के परिपाक में कमी है तहाँ भोग के ऊपर एक प्रकार का अकुश भी है। इस जिज्ञासा के कारण ही कवि जड़ में चेतन का स्पर्श देखता है। इस चेतन की ज्योति के दर्शन कवि को नहीं हुए हैं—उसे केवल आभास मिला है। स्पष्ट रूप से वह अभी तक नहीं जान पाया है कि इस चेतन के विकार मे ही प्रकृति ओतप्रोत है। इसीलिए वह दोनों में से किसी को पूर्णतः हृदयंगम नहीं कर पाता है। सौंदर्य की इस बाह्य मनोरमता में वह अतः सौन्दर्य की गध पाता है, पर उसे प्राप्त करने के लिए पूर्णतः सचेष्ट नहीं है। विकसित होने पर भी कवि में यह वृत्ति रह ही गई है

जिज्ञासा की एक सेवा

और प्रौढ़ होने पर भी सौंदर्यानुभूति की अपेक्षा वह रूप का ही कवि अधिक रह गया है। फिर वह जिज्ञासा भी निष्क्रिय है इसीलिये कवि किसी गूढ़ तात्त्विक निर्देश तक पहुँच नहीं पाता है।

साधारणतः देखने पर जान पड़ता है कि इस जिज्ञासा ने रस-परिपाक में बड़ी बाधा उपस्थित की है; पर कवि के अब तक के सम्पूर्ण जीवन और काव्य-विस्तार को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि कवि आज जो कुछ बन सका है, उसमें इसका बड़ा हाथ है। विलासिता और ठाठ-बाट के वातावरण में पला हुआ, व्रजभाषा की शृंगारिकता के प्रभाव के नीचे अपनी काव्य-स्फूर्ति को जगाने वाला यह कवि इसीलिए निकृष्ट शृंगार के गर्त में बह जाने से बच गया। इसके रहने पर भी अनेक उद्दीपक भावनाएँ आ गई हैं, पर इस जिज्ञासा के कारण ही कवि की शृंगारी भावनाएँ इतनी परिष्कृत रह सकी हैं। यही नहीं, उन पर जगह-जगह कवि की दार्शनिक अभिरुचि की छाप भी दिखाई पड़ती है। यह जिज्ञासा न केवल उनके काव्य वरन् जीवन के विस्तार में मिल गई है। इसका परिष्कार होता गया पर है जीवन की साहित्य-साधना की भित्ति वही है। वस्तुतः जीवन एव साहित्य की वह श्रेष्ठ प्रज्ञात्मक भित्ति 'प्रसाद' जी की एक बड़ी भारी विशेपता थी।

'चित्राधार' की ये रचनाएँ किशोरावस्था की हैं। इसीलिए उनमें अव्यवस्थित और अपूर्ण, पर विकसित होते हुए कवि की अस्थिरता है। ये व्रजभाषा की परम्पराओं से दबी हुई हैं। पर जहाँ इनमें परम्परा का अंधकार है, वहाँ अरुणोदय के पूर्व उषा के आगमन का आभास भी है। पहचानने

विकास की रेखाएँ

वाली आँखे कह देगी कि इस तिमिर-गर्भ से निकलकर निकट भविष्य में उषा की वे शर्माई-सी हलकी किरणे मुँह दिखाने वाली हैं जिनके द्वारा प्रभात के रंग-मच पर दिनमणि का व्यापक संदेश दुनिया सुना करती है।

इन रचनाओं में भी आज के 'प्रसाद' की विकास-रेखाएँ मौजूद हैं। इनमें एक रचना है—'नीरव प्रेम।' बिल्कुल आजकल का-सा शीर्षक मालूम पड़ता है। उस ज़माने में ऐसे शीर्षक नहीं दिखाई पड़ते थे। इसमें, सुनिए—

प्रथम भाषण ज्यों अधरान में—
रहत है, तउ गूँजत प्रान में।
× × ×
× × ×
कछु कहौ नहिँ पै कहि जात हौ।
कछु लहौ नहिं पै लहि जात हौ॥

वही ध्वनि है जो आज 'मूक कलेजे की प्रतिध्वनि' या विपंची के क्रंदन में एक फूल—जैसे कोमल प्राण सुनने की चेष्टा करता है। अवश्य ही इसमें कोई दार्शनिक रहस्य नहीं, न 'छायावाद' है। व्यक्ति के जीवन के अनुभवों के समानान्तर ही कवि की अनुभूति का विकास हो रहा है। जीवन के प्रथम प्रेम में युवक हृदय प्रायः जो अनुभव करता है, उसी की छाया इन पक्तियों में भी है। मुग्धा की लज्जा के भार से प्रथम प्रेम-संभाषण अस्पष्ट—नीरव-सा है। कुछ कहना चाहता है पर कह नहीं पाता। आज यही कवि या इस युग का दूसरा

कोई श्रेष्ठ कवि इसे जिस प्रकार लिखता, उससे इसमें अंतर है। ध्वनि कुछ विकृत, कुछ अस्पष्ट है; पर अनुभूति के अणुवीक्षण यंत्र से देखा जाय तो इसके अंदर भी भविष्य का बीज कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगा है। 'प्रथम भाषण जैसे अधर तक आकर, कुछ कहते-कहते, उलझ जाता है,—शब्दों का कंपन, उनकी सक्रियता हृदय के मधुर भार से दबकर, ऊपर से निष्क्रिय एवं नीरव पर भीतर से अत्यंत प्रबल एवं शब्दमय हो उठती है, शब्द ओठों तक आकर रुक जाते हैं, किंतु प्राण में गुँथी हुई भाव-राशि प्राणों में ही—अंदर ही अंदर—गूँजती है।' शब्द-योजना वेधक है; उसमें विदग्धता है। अपूर्णता है; वेदना उड़ी जा रही है, अभी दिल थाम कर, घर बना कर बैठी नहीं; फिर भी प्राण का कंपन आगे कुछ कर दिखायेगा, ऐसा आभास तो होता ही है। इसमें भी मानवीय प्रेम ही है—उसका शारीरिक आकर्षण भी उसके पीछे से झाँक रहा है। प्रेम में वह तप, वह शुद्धता नहीं आई है, जो उसके अमृत में होती है। पर कवि उस ओर धीरे-धीरे जाना चाहता है और उसे स्वयं इसका अनुभव होता है। इसीलिए उम्र पाने पर, बहुत कुछ परिष्कृत हो जाने पर भी, 'झरना' की बूंदों से अपनी प्यास को सुलाने की चेष्टा करते समय वह बड़ी विवशता, पर मधुर नम्रता, के साथ स्वयं स्वीकार करता है।

जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर संकलित विचार।
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार।

चमत्कृत होता हूँ मन में,

विश्व के नीरव निर्जन में।

यह है वह झिझक, जो रूपोन्माद को प्रेम के अंकुश में रखने के लिये सचेष्ट उपासक को, आरम्भ मे, प्रणय के आँगन में प्रविष्ट पहिली सीढ़ी होते समय, होती है। पर कवि यहीं नहीं ठहर गया; 'कानन-कुसुम' उसके परवर्त्ती काव्य से यह बात भी स्पष्ट हो जाता है। धीरे-धीरे प्रेमानुभव में व्यापकता आती है। 'कानन-कुसुम' (सवत् १९६९) की कविताएँ कुछ आगे बढ़ती दिखाई देती हैं। 'कानन-कुसुम' पहली बार संवत् १९६९ में प्रकाशित हुआ। उस समय भी दक्षिणापथ मे इसका अच्छा स्वागत हुआ था। 'हिंदी चित्रमय जगत्' के सम्पादक ने (२-३-१३ के पत्र में) लिखा—"कानन-कुसुम को किन फूलों की उपमा दूँ! मेरे मन पर जो कुछ प्रभाव किया है, अकथनीय है।" श्री लोचन प्रसाद पाडेय ने लिखा था—" X X पद्यों में गूढ़ भावमय एवं हृदय पर असर करने वाली कविता है। ध्वनि एवं चिंताशीलता का भी प्राचुर्य है।" यह ध्वनि ही, जो इस कवि की सम्मति में सब प्रकार की श्रेष्ठ कविता की जान है, दिन पर दिन उसके अन्दर विकसित होती गई है। 'चित्राधार' की कविताओं में जो जिज्ञासा सुप्त थी वह इसमें कुछ और आगे बढ़ी है। इसकी प्रथम कविता में ही इसका आभास मिलता है। इसमें ईश्वर को संबोधन करने वाला कवि कहता है—"विमल इंदु की किरणें तेरे ही प्रकाश का पता देती हैं। जिसे तेरी दया का प्रसाद देखना हो वह सागर

की ओर देखे। तरंग-मालाएँ तेरी ही प्रशंसा के गान गा रही हैं। चाँदनी में तेरी मुस्कराहट देखी जा सकती है। तेरे हँसने की धुन में नदियाँ कल-कल करती बही जा रही हैं। तुम प्रकृति-रूपी कमलिनी को प्रकाशित एवं प्रफुल्लित करने वाले सूर्य हो।" यहाँ प्रकृति में, प्रकृति में नहीं तो कम से कम उसके पीछे, कवि पुरुष का अनुभव करने की दिशा में जाने लगा है। यह भाव एकाकी नहीं है। वैसा होता तो इसे नगण्य समझ कर छोड़ दिया जा सकता था। पर अनेक कविताओं में विराट् का आभास—धुँधला आभास मिलता है। दूसरी कविता में भी भगवान का उस 'महासंगीत' के रूप में संबोधन किया गया है 'जिसकी ध्वनि विश्ववीणा गाती है।' तीसरी में फिर कवि ईश्वर को 'विश्व गृहस्थ' के रूप में देखता और नमस्कार करता है। इंदु, दिनकर और तारे इस विश्व-गृहस्थ के मंदिर के दीपक हैं। चौथी कविता में फिर प्रत्येक वस्तु में कवि उस जगन्नियंता को देखता है। 'हर एक पत्थर में वही मूर्ति छिपी है, और यह विश्व ही उसका अनंत मंदिर है।'

जिज्ञासा का विकास

जिज्ञासा तीव्रतर तो होती जाती है, पर 'मानस-युद्ध' तो चल ही रहा है। उसमें विजय पाने के लिए भगवान का आवाहन भी होता जा रहा है। उसकी—प्रकृति और पुरुष की—'महाक्रीड़ा' निरंतर चल रही है। होते-होते एक दिन वह भी आया जब 'प्राण-पपीहा बोल उठा आनंद में'। उस समय कवि ने प्रथम बार उस अनुभूति के विमल आनंद का अनुभव किया। यही उसके 'जीवन' का प्रथम प्रभात था। वह स्वयं कहता है—

आत्मबोध

विश्व विमल आनंद-भवन-सा बन रहा,
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था।

इतना ही नहीं, इस अनुभव के बाद, उसी के शब्दों में—

दृश्य सुन्दर हो गये मन में अपूर्व विकास था,
आंतरिक औ' बाह्य सब मे नव वसंत-विलास था।

अनुभव की गति ऊर्ध्वगामी है। आगे चलकर कवि—

"खड़े विश्व-जनता में प्यारे,
हम तुमको पाते हैं।"

कहकर भगवान का प्रकाश विश्व में प्रकाशित देखता है और उसे विश्व में ही हृदयंगम करता है।

ऐसा नहीं कि ईश्वर-विषयक या विनय-बोधक कविताओं में ही कवि का आत्मबोध फैलता दिखाई पड़ता हो; प्रेम-सम्बन्धी कविताओं में भी पवित्र कल्पनाएँ बढ़ने लगी हैं। प्रेम में भी कवि अपने जीवन की साधना, अपने प्राणों की आराधना की स्मृति को प्रकाशित होते देखता है। तब उसके प्राण उच्छ्वसित होकर बोलते हैं—

सुख-दुःख, शीतातप भुला कर प्राण की आराधना;
इस स्थान पर की थी अहो सर्वस्व ही की साधना।
हे सारथे! रथ रोक दो, स्मृति का समाधिस्थान है;
हम पैर क्या, शिर से चलें तो भी न उचित विधान है।

भाषा शिथिल है; काव्य कला की दृष्टि से रचनाएँ विशेष महत्वपूर्ण नहीं। पर हम तो यहाँ कवि का मनोवैज्ञानिक विकास

दिखला रहे हैं। कवि इस अवस्था में आ पहुँचा है कि अपने अंदर—

'स्मृति को लिये हुए अंतर में जीवन कर देंगे निःशेष।'

कहने का बल अनुभव करता है। वह ऐसे 'मोहन' को खोजता है जिसमें अपने को भुला दे। यही नहीं, विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी भावना पवित्रतर होती जा रही है। उसके हृदय में मनुष्यता के प्रति गहरी सहानुभूति जगती जाती है। 'कानन-कुसुम' की 'धर्मनीति' में यह सहानुभूति बड़ी अच्छी तरह व्यक्त हुई है। क्या भाषा, क्या भाव, दोनों दृष्टियों से, इस समूह की इस तरह की उसकी कविताओं में यह एक सुंदर कविता है :—

दृढ़ता का स्वर

जब कि सब विधियाँ रहे निषिद्ध,
और हो लक्ष्मी को निर्वेद।
कुटिलता रहे सदैव समृद्ध,
और सन्तोष मनावे खेद।
वैध क्रम संयम को धिक्कार,
अरे तुम केवल मनोविकार।

× ×

दुखी है मानव-देव अधीर—
देखकर भीषण शांत समुद्र।
व्यथित बैठा है उसके तीर—
और क्या विष पी लेगा रुद्र।
करेगा तब वह तांडव-नृत्य,
अरे दुर्बल तर्कों के भृत्य।

गुञ्जरित होगा झङ्कोनाद,
धूसरित भव-बेला में मंद्र।
कपेंगे सब सूत्रों के पाद,
युक्तियाँ सोवेंगी निस्तंद्र।
पंच भूतों को दे आनन्द,
तभी मुखरित होगा यह छंद।

× ×

दूर हों दुर्बलता के जाल,
दीर्घ निःश्वासों का हो अन्त।
नाच रे प्रवंचना के काल,
दग्ध दावानल करे दिगंत।
तुम्हारा यौवन रहा ललाम,
नम्रते! करुणे! तुझे प्रणाम।

कुछ लोगों को आश्चर्य होगा कि मैंने इस कविता का विशेष उल्लेख क्यों किया। सचमुच, इसमें वैसे तो कोई खास विशेषता नहीं है, पर 'इंदु-काल' की इन कविताओं में यह पहली कविता है जिसमें कवि जीवनमय होकर बोल सका है। इसमें पहली बार हम उसका स्पष्ट स्वर सुनते हैं। इसमें पहली बार उसमें विद्रोह की चिनगारियाँ दिखाई पड़ती हैं। इसके बाद ही उसने देश में ऐसे युवकों का आवाहन किया है 'जिनकी जननी जन्मभूमि हो', विश्व जिनका स्वदेश हो, संपूर्ण मनुष्य भाई हों, ईश्वर पिता हो तथा जिनकी—

खुले किवाड़ सदृश हो छाती सबसे ही मिल जाने को।

तथा—

जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक-करों का दृढ़ हल हो,
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों का बल हो।
प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों में,
अचल सत्य संकल्प रहे, न रहे सोता जागृतियों में।

इस तरह क़दम-क़दम पर उसका हृदय-कमल अपनी पंखड़ियों को खोलता जाता है। प्रत्येक क्षेत्र में कवि की वाणी स्पष्ट और दृढ़ होती जाती है। उसके प्रेम में अब भी वैभव की कृत्रिमता है; अब भी मिलन का चित्र वैभव के 'बैक ग्राउंड' के बिना खिंच नहीं पाता। फिर भी प्राण प्राणाधार से मिलने लगा है। नीचे इसे स्पष्ट देखिए—

हैं पलक परदे खिंचे बरुनी मधुर आधार से,
अश्रुमुक्ता की लगी झालर खुले दृग-द्वार से।
चित्त-मन्दिर में अमल आलोक कैसा हो रहा,
पुतलियाँ प्रहरी बनीं जो सौम्य हैं आकार से।
मुद मृदंग मनोज्ञ स्वर से बज रहा है ताल में,
कल्पना-वीणा बजी हर एक अपने ताल से।
इन्द्रियाँ दासी-सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं,
मिल रहा गृहपति-सदृश यह प्राण प्राणाधार से।

कवि के संचित संस्कारों तथा प्राचीन-नवीन का इसमें विचित्र संयोग हुआ है।

'कानन-कुसुम' के बाद ही 'प्रेम-पथिक' आता है। यहाँ पहुँचकर हम देखते हैं कि कवि की जिज्ञासा का समाधान होने लगा है। जीवन की मानवीय प्रेम के सम्बन्ध में कवि को जो जिज्ञासा सात्विक रेखा होती है, उसे लेकर वह एक निश्चित तात्विक निष्कर्ष तक पहुँच गया है। इस निष्कर्ष मे हम प्रेम का विराट् चित्र देखते हैं। वह अनंत है, उसका ओर-छोर नहीं है। यह जीवन-यज्ञ है जिसमें स्वार्थ और कामना का हवन करना पड़ता है। इसमें कपट नहीं है; यह अपरिमित है—एक व्यक्ति में बँधकर रहना नहीं चाहता। यहाँ रूप का आकर्षण नहीं क्योंकि जो रूप-जन्य है वह प्रेम नहीं, मोह है। कवि के शब्दों में ही इसे सुनिए—

प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।

× × ×
× × ×

प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति-मात्र में बना रहे।
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सब को समता है,
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं;
अथवा उस आनन्द-भूमि मे जिसकी सीमा कहीं नहीं।

× × ×

यह जो केवल रूप जन्य है मोह, न उसका स्पर्द्धा है।

इस महान् प्रेम के रूप का वर्णन करके ही कवि संतुष्ट नहीं है; वह इसके चरम अनुभव की आवश्यक शर्त्तें भी हमारे सामने रखता है—

"इसका है सिद्धांत—मिटा देना अस्तित्व सभी अपना
प्रियतममय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ ?
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जग-भर में,
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।
जब ऐसा वियोग हो तो संयोग वही हो जाता है
ये संज्ञाएँ उड़ जाती हैं, सत्य तत्त्व रह जाता है।"
इसलिए प्रियतम का आदेश है—
आत्म-समर्पण करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में विश्व स्वयं ही ईश्वर है।

इस प्रकार 'प्रेम-पथिक', आधुनिक हिंदी काव्य-संसार में पवित्र प्रेमानुभव का संदेश लानेवाला पहला देवदूत है। यद्यपि इसमें भी कहीं-कहीं शिथिलता आ ही गई है, फिर भी हिंदी में सात्विक प्रेम का चित्रण करने वाला ऐसा दूसरा काव्य नहीं लिखा गया। कवि के साथ जो जिज्ञासा आरंभ से चलती रही, उसने मानों इस काव्य के कवि को कुछ देर के लिए आत्मसात्-सा कर लिया है। इसमें अंतः सौंदर्य का सुन्दर आभास है और इसीलिए इतनी सादगी, सात्विकता और पवित्रता चंद पन्नो के इस लघु काव्य में अपने को प्रकाशित करने में समर्थ हो पाई है। वाह्य सौंदर्य भी इसमे है, पर वाह्य पर अंतःसौंदर्य की विजय हुई है। कवि के जीवन की संपूर्ण सात्त्रिकता मानों सिमटकर यहीं एकत्र हो गई हो।

इतने निखरे, धुले, पवित्र रूप में हम कवि 'प्रसाद' का कहीं दर्शन नहीं पाते। श्रीनंददुलारे वाजपेयी का यह कथन सत्य है कि "प्रेम-पथिक का यह छोटा-सा कथानक कवि के स्वच्छ जीवन-क्षण में लिखा गया है।"*

'प्रेम-पथिक' पहले, संवत् १९६२ के लगभग, ब्रजभाषा में लिखा गया था। सात वर्ष बाद संवत् १९६९ में कवि ने कथानक में थोड़ा परिवर्तन और परिवर्द्धन करके अतुकांत छंदों में इसे लिखा और इसी रूप में आज वह प्राप्य है।

सन् १९१३ ई० में संस्कृत के कुलक के अनुकरण पर कवि ने 'करुणालय' नामक एक पौराणिक गीति-नाट्य लिखा और १९१४ ई० में 'महाराणा का महत्त्व' नामक छोटा-सा काव्य भी निकला। पर इनमें सिवा इसके कि कवि ने एक नया मार्ग हिन्दी को दिखाया हो, न तो काव्य-कला की दृष्टि से और न तो मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक विकास की ही दृष्टि से कोई उल्लेखनीय विशेषता है।

सच पूछिए तो 'प्रेम-पथिक' के बाद 'झरना' का, कवि के मानसिक विकास एवं काव्य-कला दोनों की दृष्टि से सबसे महत्व-सत्कवि की पूर्ण स्थान है। श्रीनंददुलारे वाजपेयी ने 'झरना' पहली झलक को 'आँसू' के बाद की कृति समझ कर अपने लेख में विकास का उल्टा क्रम लगाया है। वस्तुतः 'झरना' 'आँसू' के बहुत पहले की रचना है। 'आँसू' की कल्पना के बहुत पहले,

*देखिये १७ जुलाई, १९३२ का 'भारत'।

आज से लगभग १६ वर्ष पहले, मैंने इसे पढ़ा था। आज तो यह निश्चय ही समय की गति के पीछे पड़ गया है। पर जिस समय यह पहली बार प्रकाशित हुआ, उस समय तो हिंदी-कविता को निश्चय ही इसने एक नवीन भाव-मार्ग दिखाया। 'झरना' मे पहली बार 'छायावाद' के यत्किंचित् दर्शन होते हैं। 'प्रेम-पथिक' के सात्विक प्रेम पर 'झरना' का विकास हुआ है। पर यहाँ आकर कवि कुछ रहस्यमय हो गया है; आत्मानुभव और अवस्था का भी असर पड़ा है। भाव-विकास की दृष्टि से 'झरना' को 'प्रेम-पथिक' पर तरजीह देनी पड़ेगी। आरंभ में समर्पण है। "तुम्हें तो मैंने हृदय ही दान कर दिया था, पर वह क्षुद्र था इसलिये उसने गर्व किया। × × × अब हमारा क्या रह गया है? जो कुछ था, वह कभी से तुम्हारा हो रहा है।" समर्पण की यह भावना—'स्पिरिट' —इस संग्रह में प्रबल है। शरीर की स्मृति कम हो गई है और एक सूनापन—एक विस्मृति फैलकर जो कुछ बाह्य और अस्थायी है, उसे समेट लेती है। बाहर क्या है, यह कम दिखाई देता है। भीतर की आँखे कुछ पूछना चाहती हैं। आराध्य की मूर्ति को देखकर आँखे तर होती हैं, पर हृदय की प्यास उससे बुझनेवाली नहीं। उसके लिए चुल्लू दो चुल्लू नहीं, बहुत चाहिए। वह उसे—उस 'बहुत' को—उस विराट् को, जिसे अभी तक पूर्णतः पहचानता नहीं, खोजता फिरता है। आँखों में कुतूहल है, ओठों पर प्रश्न है—

> कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा, वृक्षपत्र की मधु-छाया में।
> लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है अमृत-सदृश नश्वर काया में?

नश्वर काया में जो अमृत-सदृश छिपा है, उसकी खोज में मन पागल है। इसलिए प्रश्न बिना हल हुए, ज्यों का त्यों, चल रहा है—

जिसके अन्तःकरण अजिर में अखिल व्योम का लेकर मोती,
आँसू का बादल बन जाता, फिर तुषार की वर्षा होती।

× × ×
× × ×

निर्झर कौन बहुत बल खाकर बिलखाता ठुकराता फिरता?
खोज रहा है स्थान धरा में, अपने ही चरणों में गिरता।

अंतिम प्रश्न के उत्तर में कवि ने बड़ी सुंदर कल्पना बाँधी है। काव्य की दृष्टि से ये पंक्तियाँ कितनी सुंदर हैं—

किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का यह थका चरण है॥*

आत्मानुभव की दिशा में

कवि की मानसिक स्थिति ध्यान देने लायक है। धीरे-धीरे उसमें विरह की पवित्रता और मधुरता आ रही है। कवि को जलन की वेदना में सुख का कुछ-कुछ अनुभव होने लगा है। हृदय का विषाद सुख के कण का रूप धारण कर रहा है। पर अभी तक उपासना की सामग्री से—साधनो से ही ममता बनी है; अभी तक उपास्य पर सर्वस्व निछावर करने में आत्म-वंचना बाधक हो रही है। कवि उपासक अपनी बेबसी का अब भी अनुभव कर

---

*देखिए, 'झरना' (द्वितीयावृत्ति) पृष्ठ १२—'विषाद'।

रहा है। मोह का जाल कुछ ऐसा बुन गया है कि निकलना कठिन हो रहा है। वह असहाय की भाँति रोकर कहता है—

प्रणयी प्रणत बनूँ मैं क्योंकर, दुर्बलता निज समझ क्षोभ से;
जीवन-मदिरा कैसे रोकर भरूँ पात्र में तुच्छ लोभ से।
हाय ! मुझे निष्किंचन क्यों कर डाला रे मेरे अभिमान !
वही रहा पाथेय तुम्हारे इस अनन्त पथ का अनजान।
बूँद-बूँद से सींचो, पर ये भीगेंगे न सकल अणु तुम से।
खोजो अपना प्रेम-सुधाकर, प्लावित हो भव शीतल हिम से॥

यह जलन है, यह छटपटाहट है जिसमें शीतल हिम को कलेजे से लगाने के लिए कवि आतुर हो जाय ! यों तो कवि की किशोरकाल की रचनाओं में भी कहीं-कहीं हरियाली मिल जाती है; पर सच पूछिए तो कलेजे की वेल तो 'झरना' के अंचल में ही लहलहाना आरंभ करती है। 'प्रसाद' में प्राचीन आवरण हैं। हमारे एक मित्र ने भी, कई वर्ष पहले, दैनिक 'आज' में कुछ ऐसा ही लिखा था। इस सम्बन्ध में हम पहले लिख भी आये हैं और अवसर आने पर यथा स्थान फिर लिखेंगे। पर यह प्राचीनता यदि किसी जगह कम है तो वह 'झरना' है। इसमें नई कविता, और कहीं-कहीं रहस्यवाद की झलक भी, दिखाई दे जाती है। अव्यवस्थित, विषाद, बालू की वेला, बिखरा हुआ प्रेम, किरण आदि इस संग्रह की श्रेष्ठ कविताएँ हैं। पर इन अच्छी कविताओं के साथ कई बहुत साधारण कविताएँ भी आ गई हैं। उन्हे अलग कर देने पर यह संग्रह चमक

उठता। पर इसकी आलोचना तो हम काव्य-कला और उसके विकास की दृष्टि से आगे चलकर करेंगे।

'झरना' के बाद 'आँसू' उस गति के बिल्कुल अनुकूल हुआ है जो इस कवि को सरस मानव-काव्य की ओर लाने में शुरू से ही सचेष्ट रही है। इसमे पुराने रंग अधिक हैं, पर 'झरना' की अपेक्षा अधिक पुराना रग लेकर-भी 'आँसू' काव्य मे 'प्रसाद' की निकटतर अभिव्यक्ति है। इसमें रहस्यवाद या छायावाद की छाया नहीं, पर इसमें वही वह व्यक्त हुए हैं, और इसीलिए इसने जितने सौदाई बनाये उतने वर्तमान समय में हिंदी की शायद ही किसी काव्य-रचना ने बनाये होगे। कितने ही लोगों ने इसकी तर्ज़ पर चलने की कोशिश की। सैकड़ों हिंदी कवियों ने 'आँसू' के छंद और लय पर कविताएँ लिखी हैं। जैसे एक दिन 'भारत-भारती' की 'हरिगीतिका' अपनाई गई थी या आजकल श्रीमती महादेवी वर्मा की तर्ज़ की नकल हो रही है, उसी प्रकार 'आँसू' का भी अनुकरण हुआ। कुछ ने तो बिल्कुल नक़ल की; शब्द एवं कल्पना चुराई। एक सज्जन ने 'आँसू' का 'उत्सर्ग' करने की हास्यास्पद चेष्टा की। इन भलेमानसों को इतनी सी बात ध्यान में न आई कि आँखों में तेल और मिरचें डालने से वे 'आँसू' नहीं निकल सकते जो कलेजे के किसी कोने में खुरच लग जाने से, स्वय टप टप, नरगिस की कलियों-से चू पड़ते हैं।

'आँसू' की तारीफ़ बहुत-से लोगों ने की है। पुरानों ने भी, नयों ने भी। यह निश्चय ही एक श्रेष्ठ विरह-काव्य और गीति कविता का सुंदर नमूना है। पर काव्य की दृष्टि से तो इस पर आगे

विचार करेंगे। यहाँ तो हम कवि के मनोवैज्ञानिक विकास के बारे में

'आँसू' में कवि-मानस की अभिव्यक्ति

ही लिख रहे हैं। आरंभ से कवि में मानव-हृदय की आकांक्षाओं के प्रति जो सहानुभूति रही है, उसका इसमें चरम विकास दिखाई पड़ता है। इसके प्रणयन के समय कवि के हृदय में जीवन का जो सर्वग्राही प्रेम था, उसने उसे आत्मसात् कर लिया था—आत्ममय कर डाला था। इसीलिए इसमें 'प्रसादत्व' अधिक है। जिन दिनों लिखा जा रहा था, तभी मैंने इसके अनेक छंद सुने थे। सुनकर कहा—"इसमें तो आप छिप न सके—बहुत स्पष्ट हो गये।" कवि हँसकर चुप रह गया। 'आँसू' कवि का श्रेष्ठ प्रतिनिधि है। यह कवि की आत्माभिव्यक्ति है। उसके जीवन में जो कुछ आवेदन-सवेदन है, जो कुछ मृदुता-मनोरमता है उसके दर्शन हमें यहाँ होते हैं। निश्चय ही यह "कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। 'आँसू' में कवि निःसंकोच भाव से विलासमय जीवन का वैभव दिखाता, फिर उसके अभाव में आँसू बहाता और अंत में जीवन से समझौता करता है।"* अपने यौवन में जिस वैभव के साथ कवि क्रीड़ा करता रहा, उसके अभाव के दिनों मे उसकी याद करके रोता है। पर जो कुछ मिट गया है उसके लिए केवल रोदन और विकलता ही नहीं है। इस विरह में जगत् का—प्रकृति का जो सत्य है, उसे वह रोते-रोते भी हृदयंगम कर रहा है और

*श्री नंददुलारे वाजपेयी, 'भारत' (१७ जुलाई) १९३२ ई० ।

इसीलिये ज्यों-ज्यों 'आँसू' का अंत निकट आता है, त्यों-त्यों कवि के अंदर दार्शनिक निर्देश ज़ोर पकड़ता गया है। इसी में मानव-हृदय की सान्त्वना है। यहीं आकर उसे विश्राम मिलता है।

कवि ने दुनिया में जो रमणीयता देखी है और जिस मानवीय प्रेम, जिस माधुर्य ने उसके जीवन को अपने आकर्षण से अभिभूत कर डाला है, जो मानवीय सत्य उसके जीवन की वसत-राका में पूर्ण चन्द्र की भाँति उगा—किंतु जगत् के निष्ठुर व्यावहारिक सत्य के प्रचंड आतप के फैलते ही छिप गया, उसके स्मरण में कवि-हृदय रोया है। इस रोदन में भी वैभव का वही 'बैक ग्राउण्ड' है, और यह तो उसके काव्य में थोड़ा-बहुत सर्वत्र है, क्योंकि उसके जीवन में, उसके सस्कारों में मिला हुआ है। वह मानवीय भावनाओं का—मनुष्यों का कवि है, पर इस मानव-प्रेम के पीछे एक विशेष दार्शनिक अभिरुचि छिपी हुई है। और, इसका कारण तो यह है कि उसमें बड़ी विविधता है। जान पड़ता है, कवि ने जीवन के हर एक पहलू को अच्छी तरह देखा है और सब कुछ देख-सुनकर अपने को व्यावहारिक बनाने की कोशिश करने को बाध्य हुआ है। इसीलिये जहाँ 'आँसू' में यौवन-विलास के खो जाने का रोदन है, वहाँ यौवन का उन्माद उतना नहीं है। यौवन का विरह है पर यौवन का काव्य नहीं। इसका एक प्रधान कारण यह है कि यह विरह-काव्य है और जीवन का जो सत्य, जो अनुभव इसमे प्रतिफलित हुआ है, उसे देखे बहुत दिन हो गये हैं। पुराने प्रेम-पत्रो को उलट कर देखने पर जो एक प्रकार की हसरत आँखों में आकर झाँकने

लगती है, जो एक व्यथा होती है और लंबी 'आह' निकल जाती है, यह 'आँसू' भी वैसा ही है। बिना जलन और तड़प के टप-टप मोती गिरते जाते हैं और अपने अतीत के विषाद को हमारे सामने मूर्तिमान करते जाते हैं। इस विरह के भीतर वैभव कराह रहा है। यों कहें तो अधिक सत्य होगा कि वैभव की समाधि पर ही विरह का यह कलापूर्ण स्मारक खड़ा है। ताजमहल में उच्छ्वसित शाहजहाँ के वैभव के बीच, मुमताजमहल की समाधि के साथ दो आत्माओं के प्रेम और विरह का जैसा अपूर्व विकास हुआ है, 'आँसू' का ढाँचा भी बहुत-कुछ उसी तरह का है। उसके विरह की समाधि रज़िया और रोशनआरा की तरह मुक्त और विपन्न, सादी और अलंकारहीन, नहीं है; उसके साथ ताजमहल की समाधि का वैभव भी लगा हुआ है। जैसे उसका मिलन मल्लिका की कुंजों में, उसका रसपान नीलम की प्याली में होता है वैसे उसका विरह भी बड़े विभवशाली पार्श्वचित्रों से परिपूर्ण है।

पर यह तो जीवन की अपनी-अपनी स्थिति है। इसके लिए कवि दोषी नहीं। परिस्थिति का कल्पना पर जो असर पड़ता है उससे पूर्णतः मुक्त होना अत्यंत कठिन है। फिर यह काव्य की कोई कसौटी भी नहीं। इसलिए यहाँ इसके विशेष उल्लेख की आवश्यकता भी नहीं है। इतनी बातें तो मानसिक विकास दिखाने के लिए प्रासंगिक समझकर लिख देनी पड़ीं।

'आँसू' के बाद प्रसादजी महाकवि के रूप में हमारे सामने आये। १९३७ ई० के आरम्भ में उनका 'कामायनी' महाकाव्य

प्रकाशित हुआ। मनु और श्रद्धा के वैदिक चित्रों को लेकर यह
महाकवि के, लिखा गया है। यद्यपि इसके मूल में एक
में रूप आध्यात्मिक आख्यान है फिर भी जिस रूप में
यह लिखा गया है, उस रूप में मानव एवं मानव सभ्यता के विकास
का यह एक अत्यंत उज्वल और मनोज्ञ चित्र है। मनुष्य के अंदर
मस्तिष्क और हृदय, मनन एवं श्रद्धा का जो खेल चिरकाल से होता
आ रहा है उसमें एक की उपेक्षा होने से ही ससृति की स्वाभाविक
गति और आनन्द की साधना में वाधा पड़ती है। वस्तुतः दोनों एक-
दूसरे के पूरक हैं और दोनों के सहयोग विना मानव चल नहीं
सकता। दोनों के सामंजस्य विना सब निरानंद, निष्क्रिय और अचेत
है। कवि ने मानव-सृष्टि के विकास में श्रद्धा को अनिवार्य महत्त्व
दिया है। उसके विना जीवन में रस नहीं। मनु का अनुभव ऐसा
ही है। एकाकी जीवन में वह अपूर्ण हैं। कोई चित् शक्ति उन्हें
खींचती है। विना उसके उनका जीवन पूर्ण न होगा। प्रकृति-पुरुष
का रहस्य इस काव्य में आकर अत्यन्त स्वाभाविक और मानवीय
हो गया है। चिंता, वासना, आशा, श्रद्धा और काम आदि सर्गों
में मानव-जीवन की आशा-निराशा, सुख-दुःख, प्रेरणा और प्रवृत्ति
के वड़े ही सजीव एवं गूढ़ मनोवैज्ञानिक चित्रण हैं।

इस महाकाव्य में देव-सृष्टि की अपेक्षा मानवी सृष्टि को, उसकी
सारी रमणीयता के साथ, लेकर कवि खड़ा हुआ है। इसमे कवि
ने मनुष्यता को चित्रित किया है और इसमें हम अधूरे एवं पूर्णता
के लिए छटपटाते एवं पूर्णता को अनुभव करते हुए मानव के

पूर्ण चित्र का प्रतिबिंब देखते हैं। यद्यपि वैदिक कथा को लेकर यह लिखा गया है पर मानव-हृदय की चिरप्रवृत्तियों एवं उनके सघर्षों से ओतप्रोत है। उन्हीं के साथ, उन्हीं के सदुपयोग के साथ मानव का उत्कर्ष—अपकर्ष है। कवि के भाव-जगत् में ज्ञान और भक्ति, आत्मा और शरीर दोनों सत्य हैं। एक के लिए दूसरे का निषेध नहीं। मानवीय जगत् मे इस महाकाव्य के कवि का आनद भी स्थायी आधार पाता हैं। वह उसके साथ ही जुड़ा हुआ है। जिस 'कनवैस' पर, जिस पार्श्वभूमि पर इस महाकाव्य का चित्र खड़ा किया गया है वह अत्यंत महान है। इस प्रकार के कथानक चुनना और उसको निबाह लेना कवि 'प्रसाद' का ही काम था। साधारण पाठक तो ऐसे चित्रों को पूरी तरह 'देख' भी नहीं सकता। कवि 'प्रसाद' का मानसिक विकास इसमें पूरी तरह झलकता है। यहाँ आकर कवि मानव-जीवन की चरम अवस्था मे है। यहाँ मानव का संस्कृत, विवेक और श्रद्धा के सामजस्य से सतुलित (balanced) जीवन हम देखते हैं। हिंदी-जगत् में यह महाकाव्य महाप्रकाश की तरह आया है। यह सम्पूर्ण मानवजाति का महाकाव्य है।

इन सब बातों से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कवि 'प्रसाद' मानव-संसार के सत्य का कवि है; वह मानव-मन की विविध मनोवृत्तियों और उनके बीच उसके विकास का चित्रकार है। प्रकृति में जो श्रेष्ठता है वह भी मानव-सापेक्ष्य है। मनुष्य से भिन्न प्रकृति का इस कवि के काव्य-विस्तार में कहीं अस्तित्व नहीं। श्रीनंददुलारे वाजपेयी के इन शब्दों में सत्य है कि "शेष प्रकृति यदि उसके लिए चैतन्य है तो

भी मनुष्य-सापेक्ष्य है। यह विकास-भूमि यदि संकीर्ण है तो भी मनुष्यता के प्रति तीव्र आकर्षण से भरी हुई है।......यह शेष प्रकृति पर मनुष्यता की विजय का शंखनाद है। कवि प्रसाद का प्रकर्ष यहीं पर है।"

कवि के इस मानसिक विकास को देखते हुए हम उसे मानवीय रहस्य का कवि कहते हैं। वह मानव-जीवन की विविधता और इस विविधता के बीच मानव के विकास एवं उसकी महानता में मुग्ध है। 'कामायनी' में उसने देव-सृष्टि पर मानव-सृष्टि के महत्व की स्थापना की है और अपने मनोवैज्ञानिक विकास की सीमा पर पहुँच गया है।

---

[३]

कवि 'प्रसाद' का काव्य और उसकी धारा—१

[आरंभ से उत्क्रांतिकाल तक]

हिन्दी कविता के कोहरे में उषा की हलकी, लज्जारुण किरन की भाँति 'प्रसाद' की कविता हमें आकर्षित करती है। उसमें पीड़ा है, पर उसमें आशा भी है। उसमें कवि-मानस मे चलनेवाले युद्ध की छाया है, पर उसके साथ सदेश भी है; उसमें परिस्थिति के प्रति विद्रोह है, पर जीवन के साथ समझौता भी है। पतन और उत्थान, वियोग और संयोग, निराशा और आशा सब को उसके काव्य में प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है। उसने संसार के साथ युद्ध भी किया है; पर युद्ध ही सत्य नहीं है, इसलिए वह ससार में जो कुछ मृदुल और रसमय है, जो कुछ कलेजे से लगाने लायक है, उसे ग्रहण भी करता है। यह प्रत्यक्ष संसार का कवि है; उसमें जो कुछ सरसता और रमणीयता है वह इसमें व्यक्त हुई है और ससार की इस सरसता, इस रमणीयता के भोग में जो खेद और विषाद है वह भी प्रकट हुआ है। जीवन की सम्पूर्ण आशा, परिस्थिति की सम्पूर्ण निराशा, हृदय का उन्मादकारी आनन्द और फिर उस आनन्द का जब अत हो जाता है तब उसकी याद में रोदन, यह सब उसमें व्यक्त हुआ है। यह कवि स्पष्ट मनुष्यों का कवि है; मानव-हृदय का कवि है।

ऐसा नहीं कि जीवन में कोई तत्त्वज्ञान नहीं है। तत्त्वज्ञान तो है पर वह जीवन का अनुगामी है। वह जीवन को दबाकर, उसे 'ओवर-राइड' करके नहीं चलता; वह जीवन के साथ ही गिरता और उठता है। जीवन मे मिलकर, जीवन में ओतप्रोत होकर उसने जीवन को अपनी स्वतंत्र धारा प्रदान की हो, ऐसा नहीं है। इसीलिए 'प्रसाद' के काव्य मे जहाँ विश्वानन्द है भी, तहाँ वह मानव-प्राण में ही रसमय हो उठा है। उनका ईश्वर माया-मुक्त नहीं है, 'विश्व-गृहस्थ'* है। उनके लिए सारी प्रकृति रसवती है; वह **पुरुष** के साथ महाक्रीड़ा में निमग्न है। यह स्वानदी कवि प्रकृति-पुरुष की इस क्रीड़ा में भी मानव-हृदय-सापेक्ष्य प्रेम को मूर्त्त देखता है।

मानव-सापेक्ष्य रमणीयता का गायक

उसका पुरुष प्रकृति को नित्य नूतन रूप में सजा-सजा कर देखता है; प्रकृति उसे देखती है और वह प्रकृति को देखता है और दोनों मिलकर प्रेम का खेल खेल रहे हैं। पक्षी उस प्रेम-क्रीड़ा का गान गाते हैं। लताएँ प्रेमी पुरुष के स्वागतार्थ पुष्पमालाएँ लिये खड़ी हैं। हिमांशु कर्पूर-सी तारकावलि लिये हुए है। कवि प्रकृति और पुरुष में सर्वत्र रमणीयता देखता है। जब वह पुरुष की व्यापकता के सूचक उद्‌गार प्रकट करता है, तब भी उसे रमणीय रूप देने की ही चेष्टा करता है:—"तुम दक्षिण पवन बनकर कलियों से खेलते हो, अलि बने मकरद की मधु वर्षा का आनन्द लेते हो, श्यामा के रूप में रसीले राग गाते हो।"† कवि के सारे जीवन में रमणीयता

---

*देखिए, 'कानन-कुसुम', पृष्ठ ४।

†देखिए, 'कानन-कुसुम', पृष्ठ ८—९

का यह भाव ओतप्रोत है। प्रकृति उसके रस-ग्रहण का, उसके मनोरंजन का एक विशाल क्षेत्र है। वह संसार को उसी रूप में लेता है। संसार में जो कुछ है उसके लिए मनुष्य-सापेक्ष्य है। जो इस लम्बे संसार-मार्ग मे वेग के साथ चले ही चले जा रहे हैं, जो विश्राम नहीं जानते, जिनका ध्यान प्रकृति की रमणीयता पर नहीं है, उनके ऊपर कवि तरस खाता है और कहता है—

कुसुम-वाहना प्रकृति मनोज्ञ वसंत है;
मलयज मारुत प्रेम भरा छविवंत है।
खिली कुसुम की कली अलिगण घूमते;
मदमाते पिक-पुंज मंजरी चूमते।
किंतु तुम्हें विश्राम कहाँ है नाम को;
केवल मोहित हुए लोभ से काम को।
ग्रीष्मासन है बिछा तुम्हारे हृदय में;
कुसुमाकर पर ध्यान नहीं इस समय में।

× × ×

तुम तो अविरत चले जा रहे हो कहीं;
तुम्हें सुवर ये दृश्य दिखाते ही नहीं।
शरद-शर्वरी शिशिर-प्रभंजन-वेग में;
चलना है अविराम तुम्हें उद्वेग में।
त्रस्त पथिक देखो करुणा विश्वेश की,
खडी दिलाती तुम्हे याद हृदयेश की*।

* 'कानन-कुसुम', पृष्ठ १०-११

श्रांत पथिक से कवि अनुरोध करता है कि केवल मार्ग चलने का, कर्म का जो पागलपन तुममें है, उसे त्याग दो, आओ बैठो और देखो प्रकृति का यह सर्वत्र बिखरा हुआ सौंदर्य क्या आमंत्रण दे रहा है? यही कवि 'प्रसाद' के जीवन और काव्य की कुंजी है।

'प्रसाद' जी की देन

इस दृष्टि से देखे तो आधुनिक हिन्दी-काव्य को 'प्रसाद' ने एक नई धारा प्रदान की है। इसमें न तो प्राचीन रति-कथा का उद्द्रेलक स्वर है और न तो शृंगार के प्रति अप्राकृतिक घृणा-प्रदर्शन का, उपेक्षा का भाव है। मानव-प्राण में विधाता ने अनादि काल से जो प्यास भरी है और जो समाज-शक्ति के विकास का एक प्रधान कारण है, उसकी उपेक्षा करके कोई साहित्य जी नहीं सकता, पनप नहीं सकता! इस शृंगार में ही मानव-हृदय का पुष्प खिलता है। शृंगार स्वतः कोई उपेक्षणीय वस्तु नहीं; वह भी जीवन की एक विभूति है। उसकी उपेक्षा करके जीवन गतिमान हो नहीं सकता—कम से कम संतुलित वेग (Balanced motion) से नही चल सकता। निर्मल हृदय संतों को भी शृंगार का ग्रहण करना पड़ा है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक युग में समाज में जो अनेक अप्राकृतिक विचार-धाराएँ आईं और जिनके अंदर निर्माण करने की शक्ति की जगह प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ ही अधिक काम कर रही थीं, उन्होंने कविता, मानव-जीवन के सम्बन्ध में अत्यत शुष्क और कला और अप्राकृतिक वातावरण फैला रक्खा था। आर्य समाज के प्रचार के

साथ भी एक रुक्षता समाज मे आई। इन सब कारणों से कविता की स्वाभाविक गति रुद्ध हो रही थी। उस काल की श्रेष्ठ समझी जानेवाली कविताओं में भी सिवा शब्दों के जोड़-तोड़ के कुछ नहीं है। भावना का उद्दीपन नहीं, प्राण-प्रवाह का रस नहीं, कोई बौद्धिक आधार नही, शुष्क शब्द-जाल है। इस अनैसर्गिक काव्य-व्यापार के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा करनेवाले और कविता-गंगा की जो धारा शुष्कता के जटाजूट में उलझी हुई थी उसे वहाँ से निकालकर मानव-जीवन की घाटियों के बीच बहाने वाले पहले कवि 'प्रसाद' हैं। यहाँ हम कविता की उस रुद्ध गति को उन्मुक्त देखते हैं; यहाँ आकर उसने स्वाभाविक गति प्राप्त की है। यहाँ अनैतिक उपदेश-वृत्ति नहीं है, और न ससार को भूलकर विलास में डूबने का वह अनाचार ही है। यहाँ जीवन हँसता है, रोता है, मिलता है, टूटता है, गिरता है, उठता है, अनुरक्त और विरक्त होता है। यहाँ बस जीवन जीवन है, और कुछ नहीं। यहाँ जीवन का स्वाभाविक क्रम है; उसमें शृङ्गार भी है, विलास भी है, और आत्म-समर्पण एवं उत्सर्ग भी है। यह शरीर और आत्मा की सम्मिलित क्रीड़ा हमारे सामने रखता है। 'प्रसाद' के काव्य और उसकी धारा की यह सबसे श्रेष्ठ प्रवृत्ति है, जो उन्होंने आधुनिक हिन्दी-काव्य को प्रदान की है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि 'प्रसाद' का प्रारंभिक काव्य जो कुछ है, उसका विकास प्रकृति को लेकर ही हुआ है। परन्तु वह प्रकृति में निमग्न नहीं है; प्रकृति को लेकर उसने अपनी स्वतंत्र

रचना कर ली है। प्रकृति उसका साधन है। इस प्रकृति में मानव-जीवन

प्रकृति का उपयोग

का सुख-दुःख प्रकाशित और प्रतिविम्बित है। वह मनुष्य की भाँति वियोग में रोती है, जलती है, हँसती है और प्रियतम के आगमन पर नूतन परिधान करती है।

धूलि-धूसर है धरा मलिना तुम्हारे ही लिए।
है फटी दूर्वा-दलों की श्याम साड़ी देखिये॥
जल रही छाती तुम्हारा प्रेम-वारि मिला नहीं।
इसलिए उसका मनोगत भाव-फूल खिला नहीं॥

मैंने स्थान-संकोच से एक ही उदाहरण दिया है; पर 'प्रसाद' की प्रकृति-विषयक कविताएं ऐसे भावों से भरी हैं।

इसके अलावा एक दूसरी बात जो 'प्रसाद'-काव्य के विषय में कही जा सकती है, वह यह है कि उसकी पार्श्व भूमिका—'बैकग्राउन्ड'

वैभव और विलास की पार्श्व भूमिका

विलास और वैभव के सघन दृश्यों से रजित है। यहाँ भी हम यही देखते हैं कि जो कुछ भी कवि ने अपने जीवन में देखा और अनुभव किया है, वही उसके काव्य मे प्रकाशित हुआ है। कवि की वियोग-व्यथा भी वैभव की स्मृतियों से उद्दीप्त है। उसमें शून्यता नहीं है, निर्जनता नहीं है। वह एक ग़रीब की, या गरीबनी की, जिसका सब कुछ खो गया हो, याद नहीं दिलाती। वह राजसिक रोदन से परिपूर्ण है। यहाँ मिलन मालती-कुंजों में होता है; सुधा-पान नीलम की प्याली में होता है; मानिक-मदिरा ढलती है; हृदय-मंदिर मुक्ता-मंडित होता है; प्रेमी

मुख-चंद्र-चाँदनी-जल से मुँह धोकर शय्या-त्याग करता है। सुख-रजनी थकी-सी है; द्रुमदल, कल-किसलय हिल रहे हैं; डाली गलबाँही दे रही है; फूलों का चुम्बन चल रहा है और मधुपों की निराली तान छिड़ी हुई है।

कहीं भी कवि वियोग का ऐसा व्यथा-चित्र नहीं दे पाता जहाँ एक अकिंचन का एक ही जो कुछ था, खो गया हो और उसकी दृष्टि से सोने के सपने मिट गये हों; जहाँ प्रेमी हो, प्रेमपात्र हो; और सब कुछ भूल गया हो; जहाँ आत्मार्पण ही आत्मार्पण हो। यहाँ तो वियुक्त प्रेमी केवल प्रियतम की याद में ही नहीं रोता, वरन् मिलन-सुख से पूर्ण वह अतीत जिस वैभव से जगमग था, उसको खोकर भी रोता है। कवि बहुत ही कम स्थानों पर जीवन से ऊपर उठ सका है। उसके काव्य पर उसके खोये हुए किंतु कभी विस्मृत न होनेवाले अतीत वैभव की छाया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन कविता और साहित्य-परंपरा का भी उस पर प्रभाव पड़ा है।

संयोग काव्य का कवि

किंतु इस वैभव ने जहाँ करुण रस को उतना ऊँचा नहीं उठने दिया, जितना इस कवि की प्रतिभा उसे उठा सकती थी, तहाँ उसने शृंगार के मूल्यवान चित्र भी हमें भेंट किये हैं; तहाँ उसने काव्य को जीवन के सत्य के निकट लाने और उसे वास्तविक रूप देने में सफलता भी प्राप्त की है। इसी-लिए रूप का ऐसा चित्रकार हिंदी-काव्य-जगत् में दूसरा नहीं है। और न ऐसी श्रेष्ठ, आदर्शवाद से कुछ लेती हुई वस्तुवादी कला ही अन्यत्र दिखाई पड़ती है। इस कवि के काव्य में रूप के ऐसे सुन्दर,

मोहक और मृदुल चित्र मिलते हैं, जिनकी आधुनिक भारतीय साहित्य में, रवीन्द्रनाथ के एक-दो सौंदर्य-चित्रों को छोड़ दे तो, मिसाल नहीं। फिर जहाँ भी 'प्रसाद' जी ने रूप पर, सौंदर्य पर कुछ लिखा है तहाँ भाषा इतनी लचीली, शब्द योजना इतनी परिष्कृत और प्रवाह इतना सङ्गीतमय है कि कवि की प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। स्त्री-सौंदर्य का चित्रण तो अद्भुत है। मेरा ख्याल है कि यह कवि विरह-काव्य की अपेक्षा संयोग-काव्य अधिक अच्छा लिख सकता था। क्योंकि उसकी दृष्टि से संसार दुःख पूर्ण नहीं, अपने दुःख-सुख के विविध चित्रों में भी आनन्दमय है। यह कहते हुए भी मैं 'आँसू' की श्रेष्ठता को भूला नहीं हूँ। पर 'आँसू' में कवि ने सफलता इसलिए प्राप्त की है कि उसके विरह में भी मिलन की स्मृति अत्यंत शक्तिमान है। वह विरह-काव्य तो है पर उसके साथ, विरह के अन्तर्गत भी, स्मृति-काव्य है। बल्कि ऐसा कहें तो भी अनुचित न होगा कि वह विरह-काव्य की अपेक्षा स्मृति-काव्य ही अधिक है। वह अतीत से वर्तमान को मिलाता है। उसमें अतीत का स्वर वर्तमान से अधिक स्पष्ट है; अतीत ही मानो वर्तमान अभाव के बीच अवतरित होकर बोला है। फिर 'आँसू' अनित्य के बीच भी मानव जीवन की नित्यता के तत्वज्ञान की एक झलक हमारे सामने रखता है।

काव्य-कला का विकास

'प्रसाद'-काव्य की धारा के विषय में इतनी सक्षिप्त बातें कर लेने के बाद, यह देखने की आवश्यकता है कि उनकी काव्य-कला

का विकास किस रूप में हुआ है। वर्तमान युग (१६२०) से पहले की उनकी निम्नलिखित पद्य-रचनाएँ इस समय उपलब्ध हैं—

१. कानन-कुसुम, २. महाराणा का महत्त्व, ३. करुणालय, ४. प्रेम-पथिक, ५ झरना।

भाव-धारा की दृष्टि से, इनमें से अधिकाश रचनाएँ प्राचीन काव्य-परम्परा के बोझ से दबी हुई हैं। कानन-कुसुम में प्रकृति-सम्बन्धी, विनय-सम्बन्धी कविताएँ अधिक हैं; पौराणिक कथा-काव्य भी है। इन कविताओं की भाषा सरल है, छद धीरे धीरे चलते हैं; प्रायः भावों और छंदों में गति का अभाव है। इन कविताओं को पढ़कर अक्सर मैथिलीशरण की याद आती है। देखिए—

प्राचीनता का बोझ

जब प्रलय का हो समय, ज्वालामुखी निज मुख खोल दे;
सागर उमडता आ रहा हो, शक्ति-साहस बोल दे।
ग्रहगण सभी हों केन्द्रच्युत, लडकर परस्पर भग्न हों;
उस समय भी हम हे प्रभो! तव पद्म-पद मे लग्न हों।
हम हों सुमन की सेज पर, या कंटकों को बाड़ में;
पर प्राणधन! तुम छिपे रहना, इस हृदय की आड़ में।
हम हों कहीं इस लोक में, उस लोक में, भूलोक में;
तव प्रेम पथ में ही चलें, हे नाथ! तव आलोक में। *

अधिकाश रचनाएँ ऐसी ही हैं जिन्हें पद्य या तुकबंदी कह सकते

* कानन कुसुम, याचना, पृष्ठ ४४—४५

हैं। भाव और भाषा की शिथिलता है। कहीं-कहीं सरल प्रसाद गुण-युक्त शब्दावली भी मिलती है—

नव-नील पयोधर नभ में काले छाये,
भर-भर कर शीतल जल मतवाले धाये।
लहराती ललिता लता सुबाल लजीली,
लहि संग तरुन के सुंदर बनी सजीली।
बुलबुल कोयल हैं मिलकर शोर मचाते,
बरसाती नाले उछल-उछल बल खाते।
वह हरी लताओं की सुंदर अमराई,
बन बैठी है सुकुमारी-सी छवि छाई।
हर ओर अनूठा दृश्य दिखाई देता,
सब मोती ही से बना दिखाई देता।
वह सघन कुंज सुख-पुंज भ्रमर की आली,
कुछ और दृश्य है, सुषमा नई निराली।
बैठी है बसन मलीन पहन इक बाला,
पुरइन पत्रों के बीच कमल की माला।
उस मलिन वसन में अंग-प्रभा दमकीली,
ज्यों धूसर नभ में चंद्रकला चमकीली।
पर हाय ! चन्द्र को घन ने क्यों है घेरा,
उज्ज्वल प्रकाश के पास अजीब अँधेरा।
उस रस-सरवर में क्यों चिंता की लहरी,
चंचल चलती है भाव भरी है गहरी।

कज-कमल-कोश पर अहो! पड़ा क्यों पाला,
कैसी हाला ने किया उसे मतवाला।
किस धीवर ने यह जाल निराला डाला,
सीपी से निकली है मोती की माला।
उत्ताल तरंग पयोनिधि में खिलती है,
पतली मृणालवाली नलिनी हिलती है।
नहिं वेग-सहित नलिनी को पवन हिलाओ,
प्यारे मधुकर से उसको नेक मिलाओ।
नव चंद अमंद प्रकाश लहे मतवाली,
खिलती है, उसको करने दो मन वाली।*

इन प्रारंभिक कविताओं पर प्राचीनता का भी असर है और अनेक स्थानों पर घने अलंकार-भार से वे दबी हुई हैं। जैसे—

हैं पलक परदे खिचे वरुणी मधुर आधार से
अश्रु-मुक्ता की लगी झालर खुले दृग-द्वार से,
चित्त-मंदिर मे अमल आलोक कैसा हो रहा,
पुतलियाँ प्रहरी बनीं जो सौम्य हैं आकार से।
मुदमृदंग मनोज्ञ स्वर से बज रहा है ताल में,
कल्पना-वीणा बजी हर एक अपने ताल से।
इन्द्रियाँ दासी-सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं,
मिल रहा गृहपति सदृश यह प्राण प्राणाधार से।†

*मलिना (कानन-कुसुम), पृष्ठ २६—२७।

† मकरंदविन्दु (कानन-कुसुम) पृष्ठ ६५—६६।

अलकार-वैभव से कविता दव रही है। प्राचीन संस्कारो के कारण अलंकारों के मोह में कवि भूला हुआ है। भाव-राशि का विह्वल स्वर अभी उसमें नहीं। भावों की अभिव्यक्ति के लिए अलंकार का सहारा लेने की प्राचीन प्रवृत्ति बनी हुई है। जैसे—

मधुर-मधुर आलाप, करते ही पिय-गोद मे,
मिटा सकल संताप, वैदेही सोने लगी।
पुलकित-तनु थे राम, देख जानकी की दशा,
सुमन-स्पर्श अभिराम, सुख देता किसको नहीं?
नील गगन-सम राम, अहा अंक में चन्द्रमुख,
अनुपम शोभाधाम, आभूषण थे तारका।
खुले हुए कच-भार, बिखर गये थे वदन पर,
जैसे श्याम सिवार, आसपास हो कमल के।
कैसा सुंदर दृश्य, लता-पत्र थे हिल रहे,
जैसे प्रकृति अदृश्य, वहु कर से पंखा झले।
निर्निमेष दृगनील, देख रहे थे राम के,
जैसे प्रहरी भील, खड़े जानकी वदन के।

पर जब हम देखते हैं कि ये कवि की प्रारंभिक रचनाएँ हैं और इनमें वह काव्य-परम्परा का निर्वाह करने में, एक सीमातक, सफल हुआ है तो हमें उससे आशा बँधती है। काव्य की रूप-रेखा बनने लगी है और भाव भी कवि के मानस में आते हैं; पर ये उड़ते हुए भाव हैं जो अभी जीवन मे ओत-प्रोत नहीं हो सके हैं।

'कानन-कुसुम' के वाद रचनाकाल की दृष्टि से 'करुणालय' का

नाम आता है। १९१३ ई० में यह 'इन्दु' मे प्रकाशित हुआ था

'करुणालय'

और पीछे पुस्तकाकार छपा। यह एक गीति-नाट्य है। सिवा इसके कि इस रचना-द्वारा कवि ने हिंदी-काव्य क्षेत्र में अतुकांत कविता का क्रम चलाया हो, काव्य-कला की दृष्टि से इसमें कोई विशेष बात नहीं है। पर भाषा कुछ मँज गई है और भावों में भी एक व्यवस्थितता, एक क्रम है। इसमें कवि के अविकसित समाज-तत्त्व का भी एक क्षीण आभास है। काव्य-कला ज़रा और आगे बढ़ी है। देखिए—

> नौके! धीरे और ज़रा धीरे चलो,
> आह, तुम्हें क्या जल्दी है उस ओर की।
> कहीं नहीं उत्पात प्रभंजन का यहाँ,
> मलयानिल अपने हाथों पर है धरे—
> तुम्हें, लिये जाता है अच्छी चाल से,
> प्रकृति सहचरी-सी कैसी है साथ में,
> प्रेम-सुधामय चन्द्र तुम्हारा दीप है।
> नौके! है अनुकूल पवन यह चल रहा,
> और ठहरती, हाँ इठलाती ही चलो।

'करुणालय' के एक वर्ष बाद, १९१४ ई० में, 'महाराणा का महत्व' निकला। यह भी करुणालय की भाँति अतुकांत काव्य है,

महाराणा का महत्व

और काव्य-कला की दृष्टि से भी दोनों समकक्ष हैं; अंतर है पर बहुत थोड़ा। इसमें सात्विकता का स्वर और अपने एक ऐतिहासिक आदर्श की प्रेरणा है। इसकी उपमाएँ

भी परिष्कृत हो चली हैं—

पश्चिम निधि में दिनकर होते अस्त थे,
विपुल शैल-माला अर्बुद गिरि की घनी,
शांत हो रही थी, जीवन के शेष में
कर्मयोगरत मानव को जैसी सदा
मिलती है शुभ शांति भली कैसी छटा।

और आगे चलकर आधुनिक हिंदी-काव्य-संसार में जो कवि रमणी-रूप का बेजोड़ चितेरा बन गया, उसका आरंभ यहाँ दिखाई पड़ता है। अकबर के सेनापति रहीम खाँ, खानखाना, की पत्नी को प्रताप के सैनिक बंदी कर लाते हैं। पर प्रताप इसे हिंदू संस्कृति के विपरीत समझ आदर और सम्मान के साथ शत्रु-पत्नी को वापिस भेजते हैं। इस पर खानखाना पत्नी से विनोद करते हुए कहते हैं—

सुंदर मुख की होती है सर्वत्र ही
विजय, उसे ... ...
प्रिये! तुम्हारे इस अनुपम सौंदर्य से
वशीभूत होकर वह कानन-केसरी,
दाँत लगा न सका, देखा—'गांधार का
सुंदर दाख'—कहा नवाब ने प्रेम से।

तब उनकी पत्नी किंचित् प्रेमपूर्ण रोष से जो कुछ कहती हैं, उसका सुंदर चित्रण देखिये—

कँपी सुराही कर की, छलकी वारुणी
देख, ललाई स्वच्छ मधूक कपोल में;

खिसक गई डर से ज़रतारी ओढ़नी,
चकाचौंध-सी लगी विमल आलोक को,
पुच्छमर्दिता वेणी भी थर्रा उठी ,
आभूषण भी झनझन कर बस रह गये।
सुमन-कुंज में पंचम स्वर से तीव्र हो
बोल उठी वीणा—"चुप भी रहिए ज़रा।"

'महाराणा-महत्व' के एक वर्ष बाद, १९१५ ई० में, कवि ने 'प्रेम-पथिक' को वह रूप दिया, जिसमें वह आज उपलब्ध है। प्रेम-पथिक, भाव-विकास और सात्विक विचारोत्कर्ष की दृष्टि से, कवि के श्रेष्ठतम काव्यों में से एक है। पर विचारों को छोड़ दे तो काव्य की दृष्टि से भी 'महाराणा-महत्व' से यह काफ़ी आगे बढ़ा है। इसकी उपमाओं पर, इसके अलंकारों पर भी स्वच्छता, सात्विकता,सुन्दरता और संक्षिप्तता की छाप है।

प्रेम-पथिक

जैसे—

दया-स्रोत-सी जिसे घेरकर बहती थी छोटी सरिता।

अथवा—

सच्चा मित्र कहाँ मिलता है ?—दुखी हृदय की छाया-सा !

और भी—

ताराओं की माला कबरी में लटकाए, चन्द्रमुखी
रजनी अपने शांति-राज्य-आसन पर आकर बैठ गई।

यह काव्य हिंदी-संसार में एक नूतन संदेश लेकर आया।

इसमें वियोग है, व्यथा है, किंतु रूपजन्य मोह के ऊपर उठने की चेष्टा भी है। यह उस प्रेम की ओर जाना चाहता है, जहाँ स्वार्थ और कामनाओं को छोड़कर आत्मोत्सर्ग की साधना चल रही है; जहाँ प्रेम सृष्टि की सर्वोत्तम देन है; जहाँ वह प्रभु का स्वरूप धारण करता है और जहाँ प्रेम की कसौटी—'अपने अस्तित्व को मिटा देना है।' पहली वार हम आधुनिक हिंदी-काव्य में आशा और उत्सर्ग से भरा हुआ यह उद्बोध सुनते हैं—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना,
किंतु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।

इसके काव्य में भी सात्विकता का उच्छ्वास है—

किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना हो
करे प्रशंसा, किंतु हिमालय-सा हो जिसका हृदय रहे
और प्रेम करुणा गंगा-जमुना की धारा बही नहीं,
कौन कहेगा उसे महान ? न मरु में उसमें अंतर है।
करुणा-यमुना, प्रेम-जाह्नवी का संगम है मुक्ति-प्रयाग,
जहाँ शांति अक्षयवट बनकर युग-युग तक परिवर्द्धित हो।

अथवा—

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती-से आँसू की बूँद!
हृदय-सुधानिधि से निकले हो सब न तुम्हें पहचान सके।
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल, चिरदुःखी के परम उपाय!
यह भव-धरा तुम्हीं से सिंचित होकर हरी भरी रहती।

—इत्यादि

विकास की दूसरी सीढ़ी

कवि के हृदय में जो काव्योच्छ्वास एकत्र हो रहा था उसे 'प्रेम-पथिक' में एक निश्चित रूप देने का प्रयत्न है। 'प्रेम-पथिक' के बाद 'झरना' आता है। यहाँ आकर 'प्रसाद' की काव्य-कला निखर गई है। भावों में कुछ स्थिरता आई है; शब्द-योजना वेधक एवं व्यंजक हो गई है; कल्पना आगे बढ़ी है; मधुरता भी है। अव्यवस्थित, विषाद, रूप, किरण, बिखरा हुआ प्रेम इत्यादि इसकी श्रेष्ठ कविताएँ हैं। निश्चय ही इन कविताओं पर यौवन की छाप है और उनमे भावनाओं की प्रबलता है। वे भावनाओ के, कल्पनाओ और स्वप्नों के युग मे लिखी गई हैं, इसीलिए हम देखते हैं कि उनमें कुछ अत्यत श्रेष्ठ और कुछ अति शिथिल हैं। शुद्ध भावोद्रेक के समय जो लिखा गया, वह अच्छा हुआ और ज्वार उतर जाने पर जो लिखा गया, वह केवल छंदों मे बँधे शिथिल बंदी की भाँति रह गया। फिर 'झरना' उस काल की रचना है जब यौवन के प्रवाह में कवि का जीवन आदोलित और अस्थिर है। आँधी में उसका मन उड़ा जा रहा है। जीवन में स्थिरता नहीं है; स्थिर प्रवाह नहीं है। बरसात की नदी बलखाती, उमड़ती, अठखेलियाँ करती बह रही है। कवि-मानस मे एक सघर्ष चल रहा है। अनेक अवाछनीय वासनाएँ मन में आती हैं। कवि उनके ऊपर उठने को प्रयत्नशील है, परन्तु तोड़ मे उसका दम टूट जाता है; उसकी साधना, उसका

झरना

ध्यान प्रलोभनों की आँधी में ठीक-ठीक चल नहीं पाता। जब वह विचारों को संकलित करके प्रार्थना करना चाहता है, तभी कामना के नूपुर में झनकार होती है और मन अव्यवस्थित हो जाता है।

मैं कह चुका हूँ कि 'झरना' में यौवन का स्वर है। इसमें आत्म-प्रकाशन की इच्छा है; इसमें आत्म-दान की अभिलाषा है। इसमें 'वसन्त' और 'वसन्त की अभिलाषा', 'स्वप्नलोक और निवेदन' है। शुद्ध काव्य-कला की दृष्टि से किरण, बिखरा हुआ प्रेम और विषाद ये तीन 'झरना' की सर्वोत्तम कविताएँ हैं और श्रेष्ठ काव्य की पंक्ति में रखी जा सकती हैं। 'किरण' मे अलंकार हैं, पर उनमें एक निर्देश—एक 'सजेशन' भी है। नव वधू के समान उसमें सब रंगों का योग्य सम्मिश्रण है। उपमाएँ परिष्कृत और उच्च कोटि की कल्पना की द्योतक हैं। देखिए:—

किरण! तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग?
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती-सी तुम कौन?
स्वर्ग के सूत्र-सदृश तुम कौन, मिलती हो उससे भूलोक?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध, बना दोगी क्या विरज विशोक?
सुदिनमणि-वलय-विभूषित उषा सुंदरी के कर का संकेत,
कर रही हो तुम किसको मधुर, किसे दिखलाती प्रेम-निकेत।
चपल! ठहरो कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनंत,
सुमन-मंदिर के खोलो द्वार, जगे फिर सोया वहाँ वसंत।

धरा पर झुकी मौन प्रार्थना, स्वर्ग के सूत्र तथा दिनमणि-वलय-

विभूषित उषा सुंदरी के कर का संकेत करनेवाली यह किरण कितनी मधुर है। इसमें हलका सा रग है, और अभी जो सुकुमारिता ज़रा खेलने लायक हो चली है, उसकी छाया है।

भाव-प्रवणता एवं आर्द्रता की दृष्टि से 'विषाद' और भी श्रेष्ठ कविता है—

कौन, प्रकृति के करुण काव्य-सा, वृत्त पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ-सा अचल पड़ा है, अमृत-सदृश नश्वर काया में।
किसके अन्तःकरण-अजिर में, अखिल व्योम का लेकर मोती।
आँसू का बादल बन जाता, फिर तुषार की वर्षा होती।
विषय-शून्य किसकी चितवन है, ठहरी पलक अलक में आलस,
किसका यह सूखा सुहाग है, छना हुआ किसका सारा रस।
निर्झर कौन बहुत बल खाकर, बिलखाता ठुकराता फिरता,
खोज रहा है स्थान धरा में अपने ही चरणों में गिरता।
किसी हृदय का यह विषाद है, छेड़ो मत यह सुख का कण है;
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, करुणा का यह थका चरण है।

परन्तु 'झरना' में भी कवि की पूरी-पूरी मूर्ति का प्रतिबिम्ब नहीं है। जहाँ है भी, वहाँ उसमें छाया और प्रकाश—'लाइट ऐंड शेड'—का उपयुक्त एकीकरण और सामंजस्य नहीं है। कभी वह बहुत ऊँचा उठ जाता है और कभी बहुत नीचे गिर जाता है। उत्थान-पतन के झकोरों से यौवन का मधुवन कम्पित है। कवि के स्वर में तीव्रता है। इसमें कवि के जीवन के उत्क्रांति-काल की रेखा है। झरना, स्पष्टतः आरम्भिक यौवन काल की रचना है, जब निराशा में भी एक आशा

और मान में भी पीड़ा का एक तीव्र मादक आनन्द है। यहाँ यौवन आँखों के पानी से आशा की क्यारियाँ सींचता है कि कभी प्रेम की मालती जीवन-कुज पर खिलेगी। यहाँ पीड़ा मे भी यौवन का स्वर है। कवि के हृदय में एक ज्वाला है, पर वह उसे कहाँ ले जायगी, इसका ठीक निश्चय वह नहीं कर पाया। झरना में युवक कवि की, प्रकृति में रमणीयता देखने और खोजनेवाली दृष्टि तो है, पर उस दृष्टि मे भी प्रश्न की एक रेखा है। उसके हृदय में हलचल है—यह सब क्यो ? क्या यह ठीक है ? उसका समाधान नहीं हुआ। 'झरना' कवि 'प्रसाद' का निश्चित 'टर्निङ्ग प्वाइएट' है। कवि जीवन के चौरस्ते पर खड़ा है और सोचता है, किधर जायँ। उसका झुकाव तो एक ओर है ही, फिर भी संदेह और शंका होती है। यहाँ कवि के जीवन का एक युग समाप्त होता है। इस अवधि में बीज पड़ा है; उसको सिंचन मिला है; अंकुर निकला है और कोंपले फूटी हैं। इस अवधि मे वह एक ज़मीन में धीरे-धीरे अपनी जड़ें जमाता है। उसमें आशा का रग है; यौवन की कोयल बोलने लगी है। पर जीवन के झंझावात मे भविष्य अस्थिर है। 'झरना' को देख कर कोई विश्वासपूर्वक नहीं कह सकता कि भविष्य कवि को किधर ले जायगा ? या इस झरना के अंचल में कौन-सी बेल फूलेगी ?

---

[४]

कवि 'प्रसाद' का काव्य और उसकी धारा–२

[उत्क्रांतिकाल से 'आँसू' तक]

कवि 'प्रसाद' के विकास में 'झरना' उनकी एक विशेष अवधि के मापदंड के रूप में आता है। जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, इसमें जीवन की विविधता तो है, परन्तु एकीकरण और सामञ्जस्य नहीं। जीवन तरंगों पर आंदोलित है, उठता और गिरता हुआ। अपनी एक निश्चित धारा वह अब भी बना नहीं पाया। जीवन में एक आँधी चल पड़ी है और उसमें सब कुछ अस्थिर है। 'झरना' को देखकर उस गुलदस्ते की याद आती है जिसमें जूही और रजनीगंधा, गुलाब और मंदार-कुसुम एक साथ लगे हुए हैं और जहाँ सरो का एक गुच्छा है तो नीम की पत्तियों का भी संग्रथन है। गधों में एक प्रकार का संघर्ष है।

जीवन की छाया

कोई भी कवि या शिल्पी जीवन से चाहे जितना भागना चाहे, भाग नहीं सकता। जीवन में जो सुख-दुःख है, जो आशा-निराशा है, जो प्रकाश और छाया है, तथा इन सब के बीच गिरते और उठते, रोते और हँसते एवं क्षण-क्षण पर मानस के अतल में शक्ति से पूरित हो उठने के लिए उमड़ते हुए विकल व्यक्तित्व का जो उल्लास है, उसकी रेखाएँ कृति पर अवश्य पड़ती हैं। काव्य तो अव्यक्त हृदय-मंथन का अमृत है। इस अमृत में मानव-

प्राण में होनेवाले न जाने कितने संघर्षों का मौन इतिहास होता है। इन संघर्षों के बीच ही हमारा मानस पुष्ट एवं विकसित होता है। कवि 'प्रसाद' के लिए यह बड़ी ही प्रशंसा की बात कही जा सकती है कि उनका काव्य उनकी अवस्था और जीवन की अनुभूतियों के साथ पनपा और विकसित हुआ है। ज्यों-ज्यों उनकी चेतना श्रद्धा के अमृत एवं ज्ञान के प्रकाश से धुलती गई है, उनके काव्य मे मानव-हृदय की वाणी अधिकाधिक स्पष्ट होती गई है। 'झरना' को देखकर हम कह सकते हैं कि यह कवि की एक वयःसधि की रचना है। इसमें कैशोर की आशा और यौवनारंभ के स्वप्नों की मदिर शिथिलता है। यह जीवन की एक गोधूलि की-सी अवस्था की रचना है, जब जीवन का क्षितिज काले मेघों से आच्छन्न है और यौवन में नींद की खुमारी है।

आँसू

'झरना' के बाद कवि के जीवन में, जहाँ तक सम्बद्ध काव्य का सम्बन्ध है, मौन का एक लम्बा युग आता है। इस मौन में निरतर हृदय-मंथन जारी है और इस युग में जो स्फुट गीत लिखे गये, उन पर भी उस संघर्ष और मंथन की छाप है। किंतु संघर्षों एव अनुभूतियों की इस अवधि में कवि के मौनावलम्बन ने उसे शक्ति दी है और विकास-मार्ग में उसके काव्य को व्यथा और वेदना के बीच भी उल्लास और आशा का स्वर प्रदान किया है। इस लम्बी अवधि के बाद जो 'आँसू' निकले, उनमें स्पष्टतः कवि के विकसित मानस का

प्रतिविम्ब है। यह अच्छा ही हुआ कि आँधी के निकल जाने पर, जब मन और प्राण मे स्थिरता आ गई है, तब कवि ने इसे लिखा है। इससे विरह की व्यथा का वह दश नष्ट हो गया है, जो पाठक मे चेतना की जगह मूर्च्छा, आशा की जगह निराशा भर देता है और मानव-हृदय को करुण एवं सरल बनाकर उठाता और विकसित नहीं करता वरन् उसे तीव्र दाह और पीड़ा से भर देता है। यदि कवि ने अपनी अनुभूतियों को और अपने हृदय को यह लम्बा विश्राम न दिया होता और मानसिक उद्वेग के क्षणो मे ही इसे लिख डाला होता तो विरह और पीड़ा के बीच भी उठ कर खड़े होने का, मानव-हृदय का जो उत्कर्ष और सत्य है, वह हमें 'आँसू' में न दिखाई देता। एक हरहराहट, एक वेदना और विकलता, पाठक के हृदय को डसनेवाला डंक एव विष-मात्र उसमें रह जाता। आज तो 'आँसू' जैसा है, उस रूप में हमें अचेत नहीं करता, वरन् मानव-जीवन की विरह-कातरता और व्यथा के बीच,

'आँसू' का अमृत तत्त्व

हमारी अनुभूतियों को विकसित करता, हमारी सहानुभूतियो को बढ़ाता हुआ, हमें दुःख और पीड़ा के जगत् से बाहर निकाल ले जाता है। विरह-काव्य तब तक अपूर्ण है, जब तक वह हमें हमारे दुःखों और अभावों के बीच भी हमें जीवन का, आशा और उल्लास का सदेश न दे। इस विषय मे निश्चय ही इस कवि ने हमारे काव्य में एक आदर्श उपस्थित किया है। बहुतों ने 'आँसू' की पक्तियों को देखा है और उनमें प्रकट कल्पना और भावना की श्रेष्ठता की प्रशंसा की है, पर काव्य के समीक्षक की दृष्टि

से लोगों ने 'आँसू' की आत्मा को ठीक रूप में देखा और पहचाना हो, ऐसा मुझे नहीं जान पड़ता। काव्य का अपना एक प्राण, अपनी एक आत्मा और अपना एक व्यक्तित्व होता है। उसके टुकड़े-टुकड़े करके उसे हम देख नहीं सकते। यह गंगा की धारा को चुल्लू में लेकर देखने का प्रयत्न है, अथवा किसी सुन्दरी की आँख या मुख की सुन्दरता का वर्णन करके उस सुन्दरी को मूर्त्त करने की चेष्टा है। काव्य में, उसकी अपनी धारा और जिस केंद्रीय सत्य को लेकर उसकी रचना हुई है, उसका ध्यान रखना सबसे पहिले आवश्यक है। यही काव्य का मेरुदण्ड है। 'आँसू' में कवि ने मानव-जीवन का वह सत्य, जो जीवन की व्यथाओं के बीच दबकर कुण्ठित नहीं हो जाता प्रत्युत उन सबसे रस लेकर पुष्ट एवं जाग्रत होता है, व्यक्त किया है।

'आँसू' एक श्रेष्ठ विरह-काव्य है। पर विरह के अन्तर्गत भी यह मुख्यतः एक स्मृति-काव्य है। इसमें कवि जीवन के मृदुल एवं रसमय अतीत का स्मरण करता है, उसके अभाव में रोता है, पर रोकर ही जीवन का अन्त नहीं कर देता। इस अभाव को संसार के एक कठोर सत्य के रूप में स्वीकार करके जीवन से समझौता करता है। इस काव्य में अभाव का रोदन ही नहीं है, उस रोदन को जीतकर उसके ऊपर उठे बिना जीवन चल नहीं सकता, इसका भी अनुभव है और उस अनुभव के प्रकाश में चलने के लिए मन को सान्त्वना और आशा देने का प्रयास भी है। इस कवि के सम्पूर्ण काव्य मे मानव-जीवन के उत्कर्ष की जो धारा है, वह 'आँसू' में घुलकर निखर गई

है और अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रकट हुई है। 'आँसू' मानव-जीवन के प्रकर्ष का गान है।

'आँसू' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए। इनमें भाषा का माधुर्य, भावों की मृदुलता, सुन्दर उपमाएँ तथा कल्पना की कोमलता कितनी अधिक मात्रा में व्यक्त हुई है—

भाषा की मृदुलता :

छिल-छिलकर छाले फोड़े
मल-मलकर मृदुल चरण से
घुल-घुलकर बह रह जाते,
आँसू करुणा के कण से।

उपमा तथा कल्पना :

शशिमुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल-से तुम आये।
× ×
मादकता-से आये वे,
संज्ञा-से चले गये थे।
× ×
काली आँखों मे कैसी
यौवन के मद की लाली,
मानिक-मदिरा से भर दी

किसने नीलम की प्याली !

× ×

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय-दल पुरइन के।
जल-बिंदु सदृश ठहरे कब
इन कानों में दुख किनके !

विरह का तत्वज्ञान :

छलना थी, तब भी मेरा
उसमें विश्वास घना था;
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयं बना था।

× ×

तुम सत्य रहे चिर-सुंदर
मेरे इस मिथ्या जग के।

× ×

माना कि रूप सीमा है,
यौवन में, सुंदर ! तेरे।
पर एक बार आये थे
निस्सीम हृदय में मेरे।

× ×

चमकूँगा धूल-कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा,

पाऊँगा कहीं तुम्हें तो,
ग्रह-पथ में टकराऊँगा।

सुंदर पङ्क्तियाँ इतनी अधिक हैं कि चुनाव कठिन है। सारी पुस्तक मधुर विरह-स्मृतियों में डूबी हुई है। कवि अपने अतीत की याद करता है और उसकी याद में, उसके अभाव में आँसू बहाता है। काव्य की दृष्टि से देखे तो इसमें रूप का, वैभव एवं विलास का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन है। पर, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, इसकी सफलता यही है कि इस रोदन और वेदना के बीच भी कवि जीवन के सत्त्व की रक्षा कर सका है। उसके रोदन में आत्म-हत्या नहीं है; वह रोता है पर अंत में अपने मन को शात करके जगत् के सत्य को ग्रहण करता और जीवन के साथ समझौता करता है। निराशा और दुःख के अंत में हम आशा का संदेश पाते हैं। निराशा और व्यथा के कोहरे को भेदकर आशा की मृदुल शातिदायी किरणें आती हैं। कवि विरह और मिलन को जीवन के सामान्य क्रम में ग्रहण करता है। काव्य की अंतिम पङ्क्तियों में वेदना-भार से दबे हुए हृदय को हम ऊपर उठता देखते हैं। कवि इस निष्कर्ष पर पहुँचा है—

मानव-जीवन-वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का;
सुख-दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का, मन का।

× ×

विस्मृति-समाधि पर होगी
वर्षा कल्याण-जलद की,
सुख सोये थका हुआ-सा,
चिंता छुट जाय विपद की।

× ×

चेतना-लहर न उठेगी
जीवन-समुद्र थिर होगा,
संध्या हो सर्ग-प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

विच्छेद और मिलन को इस नैसर्गिक रूप में ग्रहण करने में ही काव्य का सत्य है। अतिवाद की सीमा पर ले जाने से जीवन के साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं रह जाता। मानव-जीवन विघ्न-बाधाओं के बीच भी ऊपर उठनेवाली जिस आत्म-शक्ति से, अन्तःस्फूर्ति से गौरवान्वित है, उसकी विजय दिखाना ही सच्चे काव्य की प्रतिष्ठा है। कवि 'प्रसाद' का गौरव इसी बात में है कि उनका काव्य सर्वत्र प्रकृति पर मनुष्य और मानवता की विजय के उल्लास और संदेश से भरा हुआ है। यह कवि स्पष्टतः मानवी भावनाओं का कवि है और सम्पूर्ण प्रकृति का सौन्दर्य एवं महत्व उसके लिये मानव-सापेक्ष है। उसका काव्य मानव-जीवन के साथ-साथ चलता है, और इसीलिए जीवन की कठोर व्यावहारिकता के साथ उसमें समझौता, संग्रथन और सामञ्जस्य की भावना है।

यह कैसा संशोधन ?

कवि के 'आँसू' का कुछ दिनों पूर्व एक नया सस्करण भी प्रकाशित हुआ है। इसमें कुछ छद नये जोड़े गये हैं और पहले के छदों में अनेक स्थानों पर परिवर्तन कर दिया गया है। उनके क्रम में भी कुछ उलट-फेर हुआ है। मैंने पुराने पाठ को 'परिवर्तित एव परिष्कृत' पाठ से मिलाया है। जहाँ तक नये रचे हुए पद्यों का सम्बन्ध है, उनका स्वागत है। उनमें कुछ बहुत सुंदर हुए हैं और उनकी आलोचना तथा आलेख मैं आगे करूँगा। पर पुराने क्रम में परिवर्तन करके, शब्दावलियाँ बदल कर तथा अन्य संस्कार करके कवि ने 'आँसू' के साथ बड़ी निष्ठुरता की है। नूतन संस्करण के बदले हुए छंदों में प्रायः प्राण-प्रवाह हलका और गतिहीन हो गया है। कवि ने जब पहले 'आँसू' लिखा तो वह स्रष्टा था; पता नहीं उस पर संशोधक बनने का नशा क्यों और कैसे सवार हुआ। ऐसी रचनाओं का सौंदर्य शब्दों के जोड़-तोड़ पर निर्भर नहीं करता। ये गद्य-लेख नहीं हैं कि विचारों के समुचित संस्कार की दृष्टि से मनमानी काटछाँट करते गये। मेरी अपनी सम्मति तो यह है कि अधिकांश परिवर्तन अवांछनीय हैं और उनसे काव्य का सौंदर्य घट गया है। नीचे हम पुराने और नये संस्करण से कुछ पक्तियाँ, अपनी धारणा की पुष्टि में देते हैं :—

पुराना पाठ छन्द नं० ४०

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये,

जीवन की गोधूली मे
कौतूहल-से तुम आये !

नया पाठ छन्द नं० ३४

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अंतर में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में
कौतूहल-से तुम आये !

यहाँ 'अंचल' को 'अंतर' कर दिया गया है। काव्य के सौष्ठव की यह हत्या है। पुराना पाठ काव्य के लय और भावना के इतना उपयुक्त था कि उसे पढ़ते ही एक चित्र आँखों के आगे आ जाता है। इस चित्र को अत्यन्त सजीव रूप में, युग-युग से हम देखते आ रहे हैं। उसमें भारतीय नारी का सजीव चित्र अंकित हुआ है। जब गृह में संध्या का आगमन होता है, नारी अंचल में दीप छिपाये हुए, कि कहीं वायु के झकोरों से विकपित होकर उसकी लौ बुझ न जाय, गृह-प्रकोष्ठ की ओर अथवा कुल-देवता के मंदिर की ओर बढ़ती है। इस मनोरम सात्विक रूप में, जीवन का, प्रेम और प्रकाश का रहस्य लेकर मन्दगति से चलती हुई नारी से भारत की आत्मा परिचित है। इस अंचल के नीचे अनादि काल से नारी-हृदय का प्रेम-प्रदीप जल रहा है, प्रकाश दे रहा है। पता नहीं, उस अंचल को दीपक पर से कवि ने—अथवा संशोधक ने—क्यों हटा लिया। इस छाया के हट जाने से 'अंतर' जल रहा है और दीपक के बुझ जाने का ही क्रम उपस्थित हुआ है।

पुराना पाठ छन्द नं० ६३

माना कि रूप-सीमा है,
यौवन में, सुंदर ! तेरे।
पर एक बार आये थे,
निस्सीम हृदय में मेरे।

नया पाठ छन्द न० ३७

माना कि रूप-सीमा है
सुंदर ! तव चिर-यौवन में
पर समा गये थे, मेरे
मन के निस्सीम गगन में।

नये पाठ में यौवन के साथ 'चिर' विशेषण व्यर्थ है। पुराने पाठ की तीसरी-चौथी पक्तियाँ निश्चय ही नये की तीसरी-चौथी पंक्तियों से श्रेष्ठतर हैं और उनमें निर्देश ('सजेशन') की अधिकता है।

पुराना पाठ छन्द नं० ३६

कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये,
स्वर्गंगा की धारा में
मिलने की भेंट चढ़ाये !

नया पाठ छन्द नं० २७

कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये

स्वर्गंगा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढ़ाये!

'मिलने की भेंट चढ़ाये' में एक बात है। 'उज्ज्वल उपहार चढ़ाये' तो बिल्कुल उज्ज्वल ही है!

पुराना पाठ छन्द नं० ६४

तुम रूप रूप थे केवल
या हृदय भी रहा तुमको?

नया पाठ छन्द नं० ५०

वह रूप रूप था केवल
या हृदय भी रहा उसमें?

पुराने पाठ में जो निजी स्पर्श या 'पर्सनल टच' था, वह नये में नष्ट हो गया है।

पुराना पाठ छन्द नं० ११५

प्रत्यावर्तन के पथ में
पद-चिह्न न शेष रहे हैं;
डूबा है हृदय-मरुस्थल
आँसू-निधि उमड़ रहे हैं!

नया पाठ छन्द नं० ८८

प्रत्यावर्तन के पथ में
पद-चिह्न न शेष रहा है,
डूबा है हृदय मरुस्थल
आँसू-नद उमड़ रहा है।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें सशोधन की वृत्ति ने काव्य का सौष्ठव नष्ट कर दिया है। कवि ने स्रष्टा का रूप छोड़कर संपादक और संशोधक का रूप धारण किया और असफल हुआ। वह तो रचना ही कर सकता था; यही उसका महत्त्व था। जब हम 'आँसू' की नवीन कविताओं को देखते हैं (जो नवीन सस्करण में नई लिखी गई हैं) तो स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ कवि रचना में सफल हुआ है वहाँ सशोधन में असफल। जहाँ भी उसने रचना की है, सृष्टि की है वहाँ उसकी मौलिकता, उसकी प्रतिभा अक्षय है और जहाँ उसने दूसरा 'रोल' ग्रहण करने की चेष्टा की है, गिर गया है।

दुखी और व्यथित प्राणी को नींद में शान्ति मिलती है। वह अपने दुःखों से उतनी देर के लिए मुक्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में कवि ने कुछ नवीन पंक्तियाँ 'आँसू' के नये संस्करण में जोड़ी हैं। देखिए—

निशि सो जावें जब उर में
ये हृदय व्यथा आभारी;
उनका उन्माद सुनहला
सहला देना सुखकारी।

× ×

तुम स्पर्शहीन अनुभव-सी
नंदन तमाल के तल से;

जग छा दो श्याम-लता-सी
तन्द्रा-पल्लव विह्वल से।

× ×

सपनों की सोनजुही सब
बिखरें, ये बनकर तारा;
सित-सरसिज से भर जावे
वह स्वर्गंगा की धारा!

× ×

चिर-दग्ध दुखी यह वसुधा
आलोक माँगती तब भी;
तम-तुहिन बरस दो कन-कन
यह पगली सोये अब भी।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि अपने रोदन में भी कवि सजग है और संसार को भूला नहीं—

वह हँसी और यह आँसू
घुलने दे—मिल जाने दे;
बरसात नई होने दे
कलियों को खिल जाने दे।

× ×

चुन-चुन ले रे कन-कन से
जगती की सजग व्यथाएँ;

रह जायेंगी कहने को
जन-रंजन-करी कथाएँ !

जगत् में जितनी भी महान् साधनाएँ हैं, सब तीव्र वेदना की अनुभूति से सजग होती और ऊपर उठती हैं। जिसका हृदय जितना ही विशाल है और उसमें जितनी ही गहरी जिसकी अनुभूति है, जगत् की उतनी ही वेदना-व्यथा का भार वह उठा लेता है। साधक को यह आन्तरिक पीड़ा और ज्वाला प्रकाश देती है और उसके प्रकाश से जगत् का अँधेरा पथ प्रकाशित होता है। जीवन की साधना में वेदना नगण्य नहीं है; उसका एक अपना महत्व और उपयोग है और वह यही कि स्वयं जलकर वह जीवन को और जगत् को आलोक दे। ऐसी वेदना और ऐसी ज्वाला कभी सोती नहीं, कभी बुझती नहीं। जब नील निशा-अंचल में हिमकर थककर सो जाते हैं और अस्ताचल की घाटी दिनकर को आत्मसात् कर लेती है, जब स्वर्गंगा की धारा मे नक्षत्र डूब जाते हैं और कादम्बिनी के कारागृह में बिजली बदी हो जातो है—

मणिदोप विश्व-मंदिर की
पहने किरणों की माला;
तुम एक अकेली तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला!

अथवा—

उत्ताल-जलधि-वेला में
अपने सिर शैल उठाये;

निस्तब्ध गगन के नीचे
छाती में जलन छिपाये।

× ×

संकेत नियति का पाकर
तम से जीवन उलझाये;
जब सोती गहन गुफा मे
चंचल लट को छिटकाये।
वह ज्वालामुखी जगत की
वह विश्व-वेदना-बाला,
तब भी तुम सतत अकेली
जलती हो मेरी ज्वाला!
इस व्यथित विश्व-पतझड़ की
तुम जलती हो मृदु होली,
हे अरुणे! सदा सुहागिनि
मानवता-सिर की रोली!
जीवन-सागर में पावन
बड़वानल की ज्वाला-सी,
यह सारा कलुष जलाकर
तुम जलो अनल-बाला-सी।
जगद्वन्द्वों के परिणय की
हे सुरभिमयी जयमाला

किरणों के केसर-रज से
भव भर दो मेरी ज्वाला।

इस ज्वाला में जो नित्य है, जो सत्य है, उसके प्रकाश से संसार उज्ज्वल और आलोकित होता है और उसमें धुँधली मूर्तियाँ स्पष्ट होती हैं—

तेरे प्रकाश में चेतन—
संसार वेदना वाला,
मेरे समीप होता है
पाकर कुछ करुण उजाला।

इस ज्वाला में दाह नहीं है। वह संसार को जलाती नहीं, शीतलता प्रदान करती है। यहाँ वासना का दंश नहीं है अतः घातक विष भी नहीं है। यहाँ ज्वाला अनुभूतियों से मगलमयी है। कवि स्वयं ही उसे संबोधन करके कहता है—

निर्मम जगती को तेरा
मंगलमय मिले उजाला,
इस जलते हुए हृदय की
कल्याणी शीतल ज्वाला!

इस कल्याणी ज्वाला ने कवि-मानस को निराशा से विषाक्त नहीं किया। अपने रोदन में ही वह उठता गया है; व्यथा में आशा आलोक प्राप्त करती गई है। यहीं काव्य की सार्थकता है। उसमें जीवन की विजय का संदेश है। अतीत की स्मृतियों में रो लेने के बाद कवि स्वयं अपने प्रेम को, अपने जीवन को पुकारता है और

कहता है—तुम जगो और संसार की पीड़ा को चुन लो। मानव-जीवन के प्रति काव्य का यह संदेश है—

ओ, मेरे प्रेम विहँसते
जागो, मेरे मधुवन में,
फिर मधुर भावनाओं का
कलरव हो इस जीवन में।

× ×

इस स्वप्नमयी संसृति के
सच्चे जीवन तुम जागो,
मंगल किरणों से रंजित
मेरे सुंदरतम जागो!

× ×

मेरी मानस-पूजा का
पावन प्रतीक अविचल हो,
भरता अनंत यौवन-मधु
अम्लान स्वर्ण-शतदल हो।

× ×

आँसू-वर्षा से खिंचकर
दोनों ही कूल हरा हो,
उस शरद-प्रसन्न-नदी में
जीवन-द्रव अमल भरा हो।

× ×

हैं पडी हुईं मुँह ढककर
मन की जितनी पीडाएँ,
वे हँसने लगें सुमन-सी
करती कोमल क्रीडाएँ।

× ×

हे जन्म-जन्म के जीवन—
साथी संसृति के दुख में,
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में।

× ×

जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे,
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप पुण्य हो जावे।

इस प्रकार जो 'आँसू' अतीत-वैभव के अभाव में बहने आरंभ हुए, वे जीवन के तत्त्वज्ञान को जगाते हुए, आशा के तत्त्वज्ञान के साथ, समाप्त हुए हैं। विलास का युग समाप्त हो गया है; उसकी जो कचट, जो पीड़ा, वासना का जो दंश कवि-मानस को आलोड़ित करता और चुभता तथा छेदता था, उसका भी अंत हो गया है। कवि ने फिर जीवन का मार्ग ग्रहण किया है। इस मार्ग में प्रेम उसका संबल है;—परन्तु अब मानिक-मदिरा का स्वप्न मिट गया है; पावन प्रभात के कर्म-प्रेरक प्रकाश की एक लपक मन में आई है।

अब कवि ने अनुभव किया है कि जन्म-जन्म से सुख-दुःखमय जीवन का यह चक्र चल रहा है; इसलिए शरीर-रंजन और शरीर के आकर्षण को लेकर इस अनंत चक्र में हम चल नहीं सकते। प्रेम मानस-पूजा का रूप लेकर ही स्थायी और अनन्त हो सकता है।

हर्ष की बात है कि 'आँसू' ने हमारे साहित्य में विरह अथवा व्यथा-काव्य का एक सजीव आदर्श स्थापित किया है। यहाँ मानव-प्राण खोकर रोता और सिर धुनता है, और फिर उस व्यथा से ही अपने मन को आशा का प्रकाश देता है, खड़ा होता है, जीवन के व्यावहारिक सत्य को ग्रहण करता है, और कर्म के, चेतना के मार्ग पर पुनः अपनी यात्रा आरंभ करता है। वासना से प्रेम और निराशा से आशा की इस कल्याण-साधना ('प्रासेस ऑव् सबलाइमेशन) मे ही काव्य एवं कवि के सत्य की प्रतिष्ठा है।

---

[५]

कवि 'प्रसाद' का काव्य और उसकी धारा–३

['आँसू' से 'लहर' तक]

'आँसू' के पश्चात् कवि की जो स्फुट पद्य-रचनाएँ हैं, उनका एक संग्रह 'लहर'* के नाम से प्रकाशित हुआ है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि 'आँसू' न केवल कवि के काव्य में वरन् उसके जीवन में भी एक विशेष महत्वपूर्ण युग का प्रतीक है। हृदय की आँखों में कैशोर से लेकर यौवन के प्रौढ़ता प्राप्त करने तक जो व्यथा, जो वेदना प्रतिबिम्बित होती रही थी और जिसके साथ प्रेम का एक तत्त्वज्ञान, हृदय का सत्य जीवन के मथनकारी संघर्ष में निचुड़ और छनकर धीरे-धीरे एकत्र हो रहा था, वह 'आँसू' में बरस पड़ी है। बादल खुल गये हैं; आकाश स्वच्छ हो गया है। इस रोदन और पीड़ा के बीच कवि ने अपने जीवन का रथ आगे बढ़ाया है। इस रोने से वह मिट नहीं गया, पनपकर नवीन कोंपलों के साथ उगा है। प्रेम भी है, स्वप्न भी है और उन्मेष भी, परन्तु विष नष्ट हो गया है—अथवा हो चला है। अब प्रेम जीवन को कुण्ठित एवं संकुचित नहीं करता; उसने प्रेमी के जगत् को आलोक एवं आशा से भर दिया है। अब वह उस मार्ग पर नहीं है, जहाँ भूत के खेद और विषाद के जल-प्रलय ने भविष्य की पगडंडियों को मिटा दिया

---

*प्रकाशक, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

हो; वह उस राजमार्ग पर है जहाँ भूत के द्वंद्व एवं संघर्ष ने भविष्य का पथ सरल और प्रशस्त कर दिया है; जहाँ पथिक को जीवन के अतीत ने जीवन का सत्य प्रदान किया है। आज उसने जाना है कि निराशा के बीच आशा और संघर्ष के बीच शांति जीवन का सत्य है। अपनी निरंतर साधना से उसने काव्य की आत्मा में प्रवेश किया है और उसके सामने काव्य का चिर-संदेश प्रकट हुआ है—दुःख में, सुख में, प्रकाश में, अंधकार में आनंद की साधना।

इसीलिए 'आँसू' के बाद कवि के काव्य में आशा का प्रबल स्वर हमको सुनाई पड़ता है। ऐसा नहीं कि इसके बाद सब दुःख और सब निराशा का एकदम अन्त हो गया हो। वैसा संभव भी न था और वह होता तो कवि कवि न रहकर तत्त्वज्ञानी हो गया होता। दुःख भी है और निराशा भी है, परन्तु अब उस दुःख और निराशा में कवि अपने को छोड़ नहीं देता। वह अपने को सान्त्वना देता है; शक्ति ग्रहण करता है और प्रतिकूल धाराओं को परास्त करता है। जो आकर सदा के लिए लौट गया है, उस बचपन और यौवन की स्मृतियाँ कभी-कभी आती हैं; उनसे फिर एक बार खेल लेने की इच्छा होती है। वह अपने जीवन के कगारों पर खड़ा होकर इस लौट जानेवाली लहर को पुकारता है—

तू भूल न री, पंकज वन में,
जीवन के इस सूनेपन में
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक,
आ चूम पुलिन के विरस अधर।

अतीत के प्रति तीव्र आग्रह

यौवन की मादकता का स्वर इस कवि के जीवन पर कुछ इस प्रकार छा गया है कि सब कुछ जानकर और अनुभव करके भी वह उसे भुला नहीं पाता। 'प्रसाद' के काव्य को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस कवि ने यौवन को बड़ी ही ज़िंदादिली से, उसमें ओत-प्रोत होकर, उसमें डूबकर और पूर्ण होकर व्यतीत किया है; उसमें उसका विलास और वैभव सीमा पर पहुँचे हुए होंगे और निस्सन्देह अनियन्त्रित प्यास के साथ उसने यौवन के मधु-कुम्भ का उन्मादकारी रस पान किया है। इसीलिए जब वह शात हो रहा है तब भी रह-रहकर अतीत बिजली की तरह चमक उठता है और आँखे झप जाती हैं, क्षण-भर को वर्तमान भूल जाता है और जो मार्ग समाप्त करके उसने दूसरा मार्ग ग्रहण कर लिया है उसी की याद आ जाती है और कलेजे में एक कसक पैदा हो जाती है—

आह रे, वह अधीर यौवन !

अधर में वह अधरों की प्यास,

नयन में दर्शन का विश्वास,

धमनियों में आलिंगनमयी—

वेदना लिये व्यथाएँ नई,

टूटते जिससे सब बंधन,

सरस सीकर-से जीवन-कन,

बिखर भर देते अखिल भुवन,

वही पागल अधीर यौवन !

—'लहर' (पृष्ठ १६)

पुरानी स्मृतियाँ फिर आती हैं—

उस दिन जब जीवन के पथ में,

छिन्न पात्र ले कम्पित कर में,

मधु-भिक्षा की रटन अधर में,

इस अनजाने निकट नगर में

आ पहुँचा था एक अकिंचन ।

[पृष्ठ १४

इस कवि में अतीत के प्रति बड़ा आग्रह है । वर्तमान के अंधड़ में, अपने पथ पर चलते हुए भी, उसकी आँखो के सामने बार-बार वे चित्र आ जाते हैं, जिन्हें समय और साधना दोनों धूमिल और शिथिल करने में लगे हुए हैं । वर्तमान के पथ पर चलते हुए, अभी-अभी जिसे व्यतीत करके यात्री आया है उसे भूल नहीं पाता—

तुम्हारी आँखों का बचपन !

खेलता था जब अल्हड़ खेल,

अजिर के उर में भरा कुलेल,

हारता था, हँस-हँसकर मन,

आह रे, वह अतीत जीवन !

तुम्हारी आँखों का बचपन !

स्निग्ध संकेतों में सुकुमार,
बिछल, चल थक जाता तब हार,
छिड़कता अपना गीलापन,
उसी रस में तिरता जीवन।

[पृष्ठ २०-२१

यौवन वसन्त की नाईं सारे जीवन में एक कंपन भर गया है। बचपन का भोलापन याद आता है, पर यौवन के स्वप्न-भरे दिन आँखों पर नशे की तरह छा जाते हैं—

वे कुछ दिन कितने सुंदर थे !
जब सावन-घन-सघन बरसते—
इन आँखों की छाया-भर थे !

× ×

प्राण 'पपीहा के स्वरवाली—
बरस रही थी जब हरियाली—
इस जलकन मालती-मुकुल से—
जो मदमाते गंध विधुर थे !

[पृष्ठ २६

परन्तु अतीत के प्रति इस आग्रह, इस पश्चाद्दर्शन और इस मोह के बीच भी प्रकाश के पथ पर उसकी यात्रा जारी है। वह यह जानता है कि अतीत को लौटाने का यह सब रुदन व्यर्थ है और

कल्याण का मार्ग साहसपूर्वक वर्तमान को सुधारने और भविष्य का सामना करने में है। वह यह भी जानता है कि यौवनकाल की—

[कोमल कुसुमों की मधुर रात !

वह लाज भरी कलियाँ अनन्त,

परिमल-घूँघट ढक रहा दंत।

कँप-कँप चुप-चुप कर रही बात,

कितने लघु-लघु कुड्मल अधीर,

गिरते बन शिशिर-सुगंध-नीर,

हो रहा विश्व सुख-पुलक-गात।

—पृष्ठ २४]

कोमल कुसुमों की मधुर रात ही एकमात्र जीवन का ध्येय नहीं है। वह भोग की एक अवधि है। पर जीवन में भोग ही सदा नहीं चल सकता। भोग और त्याग का उचित मिश्रण ही जीवन है। जैसे विश्राम, वैसे कर्म भी जीवन की भूख है। अंधकार से निकलकर प्रकाश की साधना ही जीवन का सत्य है। कवि इस सत्य को जानकर ही अपने बार-बार मचलते हुए हृदय पर अंकुश रखना चाहता है। वह अपनी दुनिया को विस्तृत करना चाहता और अपने मन को उदार बनाना चाहता है—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?

इसमें क्या है धरा, सुनो।

मानस जलधि रहे चिर चुम्बित

मेरे क्षितिज ! उदार बनो ।

[पृष्ठ ४

जीवन की मधु-यामिनी में जो आलस्य था, जो शिथिलता थी, जो मदिर नींद थी, उससे जगकर जीवन के कर्मण्य पथ पर कवि चलने को आतुर है, और अपने अन्तःकरण से पुकार कर वह सुप्त जीवन को जगाना चाहता है—

अब जागो जीवन के प्रभात !

वसुधा पर ओस बने बिखरे.

हिमकन आँसू जो क्षोभ भरे,

ऊषा बटोरती अरुण गात ।

अब जागो जीवन के प्रभात !

[पृष्ठ २२

जीवन की इस पुकार में कवि ने अपना खोया हुआ जीवन पाया है। वह जग गया है। पर इस जागरण में भी, विश्राम की रात्रि का माधुर्य उसने खो नहीं दिया। इस दिन में भी रात का रस उसने सुरक्षित रक्खा है। जीवन के जागरण में भी जीवन की नींद का एक हलका-सा पुट है। यहाँ जीवन सर्वग्राही, चारों ओर से परिपूर्ण हो उठने को विकल है।

जीवन की सर्वग्राही साधना

यही कवि और उसके काव्य की सफलता है। 'लहर' स्फुट कविताओं का सग्रह है, इसलिए उसमें एक निश्चित मर्यादा और

निश्चित धारा को खोज लेना सरल नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि उसमें अनेक धाराएँ हैं। पर इन अनेक के साथ भी कवि के जीवन और काव्य की वह केंद्रीय धारा आगे बढ़ती गई है। कवि का काव्य उसके जीवन के विकास के अनुरूप, उसी के साथ-साथ उठा और बढ़ा है। यों 'लहर' में 'आँसू' की एकरूपता और एक-रसता नहीं है और स्फुट कविताओं के संग्रह में उसकी आशा भी नहीं की जा सकती, परन्तु इतना है कि यह 'लहर' जीवन-नदी की सतह पर उसके बहुरंगी रूपों का एक सत्य हमारे सामने रख जाती है। जीवन एक जीवित, प्राणवान वस्तु है; अपनी सारी गहराई और ऊँचाई में भी वह जीने एवं जिलाने के लिए ही आता है। वह पत्थर नहीं है। वह बोलता है, हँसता है, रोता है, गाता है, अट्टहास करता है—और इन सबके बीच पनपता, बढ़ता और अपनी पंखुरियों को खोलता है। वह विलास में रुद्र और त्याग में शिव है। वह शैशव की चंचलता, यौवन की खुमारी और वार्द्धक्य की गंभीरता में अपने को प्रकट एवं पुष्पित करता है। इस बहुभावमय जीवन का एक अच्छा प्रतिबिम्ब हम 'लहर' में देखते हैं। इसमें विलास की स्मृतियाँ हैं; दो दिन प्रेम की गोद में सुख से बिता लेने की आकांक्षा है; रूप एवं वैभव के चित्र हैं; जागरण की पुकार है; नियंत्रण की प्रवृत्ति है और आनंद का उल्लास है। इसमें खोना और पाना, विरह और मिलन, भोग और त्याग है। हाँ, इन सब के बीच कवि का स्वानंदी जीवन सर्वत्र उपस्थित है। मानव-जीवन में जो कुछ है, सब में डूबकर उसका रस-पान करनेवाला यह कवि जीवन के बहुरंगी

रूपों में, उसके विषाद में और उसके उल्लास में, सर्वत्र मानव है, सर्वत्र जीता है। उसने कभी अपने आदर्शवाद में अपने प्रत्यक्षवाद को डूब जाने नहीं दिया, बल्कि आदर्शवाद के छींटों से, स्वप्न की खुमारियों से जीवन के प्रत्यक्षवाद को जीवित एवं पुष्ट किया है। यहाँ प्रकृति भी मानव-जीवन का अनुसरण करती है। जैसा कि कवि ने सारनाथ के मूल-गंध-कुटी विहार के उद्घाटनोत्सव मे तथागत बुद्ध का स्मरण करते हुए कहा था—

छोड कर जीवन के अतिवाद,
मध्यपथ से लो सुगति सुधार।

वही कवि के जीवन और काव्य की भी मुख्य प्रवृत्ति है। यहाँ मर्यादा के अन्दर रहकर भी जीवन सर्वाङ्गी है।

प्रेम की सिद्धि के मार्ग में

'लहर' में कवि की प्रेम की धारणा का भी किंचित् विकास हुआ है। 'प्रेम-पथिक' के अतिरिक्त कहीं कवि प्रेम,—निष्कलुष निरामय सर्वत्यागी प्रेम की गहराई मे अपने को प्रकट नहीं कर पाया है। 'प्रेम-पथिक' उसके कर्म-कोलाहलमय जीवन में कुछ शांत सात्विक क्षणों की रचना है। उस रूप में फिर कभी वह दिखाई नहीं पड़ा। उसके बाद तो हमने उसका राजसिक रूप ही देखा है और उस राजस-प्रधान जीवन में भी प्रेम को भोग के रूप में ही व्यक्त हुआ पाया है। किंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है, प्रेम मे वासना का अंश कम और भोग का भाव भी शिथिल होता गया

है। यह क्रम जीवन के विकास के अनुरूप ही है। 'आँसू' में, जो खोये हुए अतीत का विरह-गान है, भी विलास रह-रहकर प्रधान हो उठा है। परन्तु 'प्रेम-पथिक' को छोड़ दें, तो जैसे 'आँसू' में 'झरना' से और 'झरना' में अन्य रचनाओं से प्रेम का रूप अधिक उज्ज्वल और अधिक परिष्कृत होता गया है वैसे ही 'लहर' में भी वह 'आँसू' की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल और आत्मार्पणकारी रूप में व्यक्त हुआ है। सबसे बढ़कर तो यह कि यद्यपि 'लहर' में रूप के अनेक चित्र हैं, विलास और वैभव के अनेक भाव हैं, हसरत और लालसा का भाव भी बिल्कुल नगण्य नहीं है, फिर भी कहीं वासना का नंगापन अथवा अश्लीलता का आभास नहीं है। सर्वत्र रूप पर आवरण है और वासना पर नियंत्रण।

लालसा और हसरत का एक चित्र देखिये—

चिर-तृषित कंठ से तृप्ति-विधुर
वह कौन अकिंचन अति आतुर
अत्यंत तिरस्कृत अर्थ-सदृश
ध्वनि कंपित करता बार-बार
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

[पृष्ठ ३९

इस हसरत, निराशा और लालसा के करुण और वेदनामय चित्र में कवि का हृदय हाहाकार कर रहा है, किंतु इस हाहाकार में भी वह अपना उज्ज्वल रूप भूला नहीं। उसका विवेक उसके

पास है। क्षण भर हाहाकार और फिर उस अन्धकार में प्रेम का उज्ज्वल आत्म-रूप प्रकाशित हो उठता है। अपने रोदन और लालसा पर विजय पाकर उसका प्रेम, अपने विशुद्ध रूप में, यों व्यक्त होता है। हृदय की प्यास का यह जवाब है—

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही हैं सब।
आँसू के कन-कन से गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार?—
मुझको न मिला रे कभी प्यार!

[पृष्ठ ३७

प्रेम में असफलता का अनुभव उसकी अपूर्णता एवं उसके वासना-मिश्रित भाव का द्योतक है। जहाँ अधिकार की इच्छा है, वहाँ वासना है और वहीं असफलता का तीव्र दंश भी है। जहाँ आत्मार्पण का भाव जितना ही पूर्ण है, वहाँ प्रेम उतना ही शुद्ध और सात्विक है। शुद्ध प्रेम आत्मार्पण-रूप है। प्रेम का स्वभाव देना है, लेना नहीं। जो जितना ही देता है, वह उतना ही प्रेमी है। बल्कि यों कहें कि देना ही, आत्म-दान ही, प्रेम है। कवि अपने हृदय की लालसा के उत्तर में पुकार कर कहता है—"अरे पागल! कहीं वह मिलने की, लेने की चीज़ है? वह तो देने की वस्तु है।"

इसी जीवनदायी प्रेम को कवि अब बार-बार पुकारता है—

मेरी आँखों की पुतली में
तू बनकर प्रान समा जा रे!
जिससे कन-कन में स्पन्दन हो
मन में मलयानिल चंदन हो
करुना का नव-अभिनंदन हो
वह जीवन-गीत सुना जा रे!

[पृष्ठ २७

दुःख और विषाद नहीं, आनन्द और स्मित इस प्रेम के चित्र हैं—

खिंच जाय अधर पर वह रेखा—
जिसमें अंकित हो मधुलेखा,
जिसको यह विश्व करे देखा,
वह स्मित का चित्र बना जा रे!

[पृष्ठ २७

अन्तस्तल में सात्विक आकांक्षाओं का उदय हुआ है। मन में शीतलता आई है और अब प्रेमी संसार के कल्याण से अपने हृदय के बंधनों को जोड़ चुका है। इस प्रेम के कारण अन्तर दर्पण-सा हो रहा है और उसमें विश्व अपने दुःख-सुख के साथ प्रतिविम्बित है।

काव्य-कला की दृष्टि से

काव्य-कला की दृष्टि से भी 'लहर' में कवि ने 'आँसू' की ऊँची मर्यादा क़ायम रखी है। कई बातों में वह 'आँसू' से भी आगे बढ़ा है। काव्य के किसी 'स्कूल' को ले लें—ध्वनि, रस और अलंकार, सब

दृष्टियों से 'लहर' की कविताएँ उत्कृष्ट काव्य की कसौटी पर खरी उतरती हैं। सुंदर उपमाएँ, साग रूपक तथा उत्कृष्ट उत्प्रेक्षाएँ इसमें प्रचुरता से हैं। रूप-चित्रण के, जो कवि 'प्रसाद' की ख़ास कलम है, सुंदर से सुंदर नमूने इसमें हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि इस कवि की रचनाएँ क्लिष्ट होती हैं और उनमें कठिन संस्कृत शब्द बहुत आते हैं। 'लहर' में यह बात भी नहीं है। प्रसाद गुण पर्याप्त और शब्दावलियाँ विषय के अनुकूल हैं।

चित्रण

एक चित्र देखिए—

आँखों में अलख जगाने को,
यह आज भैरवी आई है।
ऊषा-सी आँखों में कितनी,
मादकता भरी ललाई है।
कहता दिगन्त से मलय पवन,
प्राची की लाज-भरी चितवन।
है रात घूम आई मधुवन,
यह आलस की अँगड़ाई है।
लहरों में यह क्रीड़ा चंचल,
सागर का उद्वेलित अंचल
है पोंछ रहा आँखें छलछल,
किसने यह चोट लगाई है?

[पृष्ठ १७

इससे मधुर और सुन्दर एक और चित्र है। नीचे देखिए—

बीती विभावरी जाग री!

अम्बर-पनघट में डुबा रही—
तारा-घट ऊषा नागरी।

खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,

लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु-मुकुल-नवल-रस गागरी।

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बंद किये—

तू अब तक सोई है आली!
आँखों में भरे विहाग री!

[पृष्ठ १६

शब्दावलियाँ कितनी मधुर हैं। रस इनसे छलका पड़ता है। विशेषतः अंतिम पक्तियों को देखिए। बिल्कुल चित्र-सा खड़ा कर दिया है। इन लाइनों पर श्रेष्ठ शिल्पी बहुत ही अच्छा चित्र बना सकता है।

प्रवाह :

काव्य में गति का महत्व भी कुछ कम नहीं है। यह प्रवाह, जिसे उर्दू कवि 'जोशे बयान' कहते हैं, 'लहर' में खूब है। कहीं-कहीं तो वह वर्षा की हरहराती हुई नदी के समान चलता है—कूलों और

कछारों को तोड़ता हुआ। इस गति और प्रवाह में पाठक का हृदय उद्वेलित और विकंपित हो उठता है। देखिये—

काली आँखों का अंधकार
जब हो जाता है वार पार,
मद पिये अचेतन कलाकार
उन्मीलित करता क्षितिज पार—

वह चित्र रंग का ले बहार
जिसमें है केवल प्यार प्यार!

केवल स्थितिमय चाँदनी रात,
तारा किरनों से पुलक गात,
मधुपों मुकुलों के चले घात,
आता है चुपके मलय वात,

सपनों के बादल का दुलार।
तब दे जाता है बूँद चार!

तब लहरों-सा उठकर अधीर
तू मधुर व्यथा-सा शून्य चीर,
सूखे किसलय-सा भरा पीर
गिर जा पतझड़ का पा समीर।

पहने छाती पर तरल हार,
पागल पुकार फिर प्यार प्यार!

[पृष्ठ २८-२९

संगीत :

काव्य से संगीत का घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस काव्य में जितना ही संगीत होता है, वह उतना ही मृदुल और कर्ण-मधुर लगता है। जैसे भाव काव्य का प्राण और ध्वनि उसकी आत्मा है, वैसे ही संगीत उसकी हृद्‌गति ('हार्टबीट') है। इस दृष्टि से भी 'लहर' का अपना एक महत्व है। इसकी प्रायः सभी कविताएँ सगीत की अन्तःभावना से पूर्ण हैं। ऐसा भी कह सकते हैं कि कवि 'प्रसाद' के संपूर्ण काव्य-विस्तार में 'लहर' सबसे अधिक संगीतात्मक ('म्यूज़िकल') है। एक प्रकार से यह गीतों का संग्रह ही है। इसीलिए गीति काव्य ('लीरिक') की भाँति इसकी शब्दावली संगीत-मधुर है, और ढंग में कुछ नवीनता है।

मधु ऋतु आ गई है। कलियाँ उधर चटख़ीं, इधर कलेजा मुँह को आया। व्यथा और वेदना का कवि स्वागत करता है—

अरे आ गई है भूली-सी,
यह मधु ऋतु दो दिन को,
छोटी-सी कुटिया रच दूँ मैं,
नई व्यथा साथिन को!

वसुधा नीचे ऊपर नभ हो,
नीड़ अलग सबसे हो,
झारखंड के चिर पतझड़ में,
भागो सूखे तिनको!

आशा से अंकुर फूलेंगे,
पल्लव पुलकित होंगे,
मेरे किसलय का लघु भव यह,
आह, खलेगा किनको ?
जवा-कुसुम-सी उषा खिलेगी,
मेरी लघु प्राची में,
हँसी-भरे उस अरुण अधर का
राग रँगेगा दिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से हैं,
दे देने दो इनको।

[पृष्ठ ४४-४५

जीवन में स्नेही के प्रति जो खोज और आग्रह है, वह निम्न-लिखित पक्तियों में किस सुन्दरता से व्यक्त हुआ है—

अरे, कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को ?
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढरने वाले को ?
सूने नभ में आग जलाकर
यह सुवर्ण-सा हृदय गलाकर,

जीवन-संध्या को नहलाकर
रिक्त जलधि भरने वाले को ?

रजनी के लघु-लघु तम कन में,
जगती की ऊष्मा के वन में,
उस पर पड़ते सघन तुहिन में
छिप, मुझसे डरने वाले को ?

निष्ठुर खेलों पर जो अपने
रहा देखता सुख के सपने
आज लगा है क्या यह कँपने
देख मौन मरने वाले को ?

[पृष्ठ ४०-४१

'भिखारी' का एक मधुर चित्र—

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला !
सोता तारक-किरन-पुलक-रोमावलि मलयज वात,
लेते अँगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदुगात।
रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी ! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।
गूँज उठी तेरी पुकार—'कुछ मुझको भी दे देना—
कन-कन बिखरा विभव दान कर अपना यश ले लेना।'
दुख-सुख के दोनों डग भरता वहन कर रहा गात,
जीवन का दिन पथ चलने में कर देगा तू रात।

तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना,
सोनेवाले जगकर देखें अपने सुख का सपना।

[पृष्ठ ५१

इनके अतिरिक्त इसी लेख में पहले जो उदाहरण दिये गये हैं, उनमें संगीत का अंश इन पंक्तियों से भी अधिक है, परन्तु पुनरुक्ति होगी, इसलिए उन्हें यहाँ नहीं दिया गया।

इतिहास के प्रस्तर-खंडों में

इस 'लहर' के अन्त में कवि की तीन मुक्तवृत्त, अतुकांत, कविताएँ हैं। एक युग के बाद इन छन्दों में कवि हमारे सामने आया है और इस रूप में हम उसे पाकर सुखी हैं। हमारे साहित्य में, इन तीन में दो कविताएँ तो अमर रहेंगी। निराला जी की दो-तीन मुक्तवृत्त कविताएँ ही इनकी कोटि में रक्खी जा सकती हैं। इतिहास के विस्मृत-से हो रहे प्रस्तर-खंडों से कवि ने अमृत की बूँदें निचोड़ ली हैं। इन दोनों में पहली वीर रस की और दूसरी शृंगार-प्रधान रचना है;—और दूसरी तो कवि की 'मास्टर पीस' है।

भारत का अन्तिम युग का इतिहास सिखों की वीरता की कथाओं से भरा पड़ा है। चिलियानवाला इत्यादि में सिखों ने अंग्रेजी सेना के दाँत खट्टे कर दिये थे। कनिंघम ने सिखों की वीरता को बार-बार अर्घ्य दिया है। अंग्रेजों से एक सिख सेनापति (लालसिंह) मिल गया। जब रणभूमि में सिख तोपची तोप चलाते हैं तो देखते हैं कि उनमें काठ के गोले भरे हैं; बारूद का स्थान आटे ने ले लिया

है। इस पर भी सिख खूब लड़े। पराजित हुए, परन्तु इस पराजय में भी उनकी वीरता विजयिनी हुई। इस युद्ध के अंत में शेरसिंह ने आत्मसमर्पण किया और शस्त्र रखते हुए जो कुछ कहा, उसी का वर्णन प्रथम कविता ('शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण') में है। देखिए—

> ले लो यह शस्त्र है
> गौरव ग्रहण करने का रहा कर में—
> अब तो न लेश मात्र
> लालसिंह ! जीवित कलुष पंचनद का।
> देख, दिये देता है
> सिंहों का समूह नख-दंत आज अपना।"

[पृष्ठ ४७

जो शस्त्र सिख-सिंहों के नख-दंत तुल्य थे, आज उनके हाथ से निकले जा रहे हैं। तलवार देते हुए, उसे संबोधन कर, उसके कराल-कृत्यों की याद, शेरसिंह यों करते हैं—

> "ए री रण-रंगिनी !
> सिक्खों के शौर्य भरे जीवन की संगिनी !
> कपिशा हुई थी लाल तेरा पानी पान कर।
> दुर्मद दुरन्त धर्म दस्युओं की त्रासिनी—
> निकल, चली जा तू प्रतारणा के कर से।"

× × ×

"अरी वह तेरी रही अन्तिम जलन क्या?
तोपें मुँह खोले खड़ी देखती थीं त्रास से
चिलियानवाला में।
आज के पराजित जो विजयी थे कल ही
उनके समर-वीर-कर में तू नाचती
लप-लप करती थी जीभ जैसे यम की।
उठी तू न लूट, त्रास, भय के प्रचार को,
दारुण निराशाभरी आँखों से देखकर
इस अत्याचार को।
एक पुत्रवत्सला दुराशामयी विधवा
प्रकट पुकार उठी प्राणभरी पीड़ा से—
और भी;
जन्मभूमि दलित विकल अपमान से
त्रस्त हो कराहती थी
कैसे फिर रुकती?"
"आज विजयी हो तुम
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे, इतिहास भी कहेगा यही,
किंतु वह विजय प्रशंसाभरी मन की—
एक छलना है।
कहेगी शतद्रु शत संगरों की साक्षिणी,

सिक्ख थे सजीव

स्वत्व-रक्षा में प्रबुद्ध थे।"

[पृष्ठ ५८, ५६, ६०

यह कविता ऐसी है कि पढ़ते-पढ़ते नाड़ियों में रक्त तेज़ी से चलने लगता है। भुजाएँ फड़कने लगती हैं। इस कविता में हमारा इतिहास मानो जीवित-जाग्रत होकर बोलता है। आधुनिक हिंदी-साहित्य में इस प्रकार की कविताएँ बहुत थोड़ी हैं।

दूसरी कविता है—'प्रलय की छाया।' सब दृष्टियों से यह हिंदी-साहित्य की दो चार सर्वश्रेष्ठ कविताओं में स्थान पावेगी। यह कवि का एक 'मास्टर पीस' है। इसका प्रवाह, इसकी रसमयता, इसके अलंकार सब एक से एक बढ़कर हैं। ध्वनि, रस, अलकार, भाव और शब्द-सौष्ठव का इसमें बड़ा ही सुदर सयोग है। इसमें रूप और उद्वेलित यौवन के बड़े ही उत्कृष्ट चित्र हैं और विलास तथा वैभव का अद्भुत वर्णन है। इसमें गुजरात की रानी कमला (जो बाद में अलाउद्दीन के हरम में रख ली गई थी) के उत्थान-पतन की, उसकी महत्वाकांक्षा और निराशा की उसी के द्वारा कही जानेवाली कथा है। इसमें कहीं नारी-हृदय का गर्व, कहीं उसकी बदले की भावना, कहीं उसकी दुर्बलता और कहीं तेजस्विता के सजीव चित्र भरे पड़े हैं। यह पूरी की पूरी कविता (जो काफी बड़ी है) पढ़ने लायक है। इसमें से कुछ लाइनो का चुन लेना अत्यंत कठिन है।

अभिलाषाओं के शृङ्ग से गिर कर कमला उन दिनो की याद करती है, जब शैशव छूट रहा था और कैशोर उसके शरीर में झलकने लगा था। इस कैशोर का चित्र देखिए—

"थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की
संध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज में।
और उस दिन तो—
निर्जन-जलधि-वेला रागमयी संध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंगरलियाँ!
दूरागत वंशी रव—
गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रन्ध्र खोजती थी रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को—हँसाने को।
पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गंध से—
कस्तूरीमृग-जैसी।
चरण हुए थे विजड़ित मधु-भार से।
हँसती अनग-बालिकाएँ अन्तरिक्ष में
मेरी उस क्रीड़ा के मधु अभिषेक में।
नत-शिर देख मुझे।
नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से।
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा

पी रही दिगन्तव्यापी संध्या-संगीत को।
कितनी मादकता थी ?
लेने लगी झपकी मैं
सुख-रजनी की विश्रंभ-कथा सुनती;
जिसमें थी आशा
अभिलाषा से भरी थी जो
कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद में
जीवन-सुरा की वह पहली ही प्याली थी।"

[पृष्ठ ६५, ६६, ६७

यह कविता ऐसी है कि इस पर विवेचना करने और इसका सौन्दर्य दिखाने के लिए बहुत अधिक स्थान चाहिए। मैंने एक बिल्कुल साधारण टुकड़ा—आरंभ की चन्द लाइनों का—यहाँ दिया है। इसमें संदेह नहीं कि यह कविता न केवल हिंदी-साहित्य में, वरन् संसार के साहित्य में ऊँचा आसन पायेगी। रवीन्द्रनाथ की उर्वशी में भी रूप और लालसा का इतना सुंदर चित्र नहीं मिलता।

इस प्रकार 'आँसू' के कवि से जो आशा हमने पिछले अध्याय के अंत में की थी, वह 'लहर' में पूरी हुई है। कवि अपनी यात्रा और साधना में आगे बढ़ा है। उसका क्षितिज पहले से विस्तृत है। उसका प्रेम प्रशस्त है। उसका सौन्दर्य-वर्णन निर्दोष है।

उसने जीवन का मर्म समझा और उसे अंगीकार किया है। काव्य जीवन को चिर-आनन्द का जो संदेश देता है, उसे हम इसमें अधिक स्पष्ट रूप में देखते हैं। वासना का दंश टूट गया है और प्रेम यौवन की कुज-गली से निकलकर जीवन के राजमार्ग पर आ गया है और उसने आशा और प्रकाश के साथ अपनी मानवता की विजय-यात्रा आरंभ कर दी है।

———

[६]

कवि 'प्रसाद' का काव्य और उसकी धारा–४

['लहर' से 'कामायनी' तक]

'लहर' की समीक्षा के अंत में मैंने कहा है कि 'कवि के चिर-आनंद का संदेश स्पष्ट होता जा रहा है; प्रेम यौवन की कुंज-गली से निकलकर जीवन के राजमार्ग पर आ गया है और उसने आशा और प्रकाश के साथ अपनी मानवता की विजय-यात्रा आरंभ कर दी है।'

मानवता की यह विजय-यात्रा 'कामायनी' में आकर पूर्ण हुई है। हिंदी-साहित्य में 'कामायनी' का प्रकाशन एक घटना है। हिंदी में 'प्रसाद' जी के आगमन ने जिस नूतन यज्ञ का संदेश दिया था, 'कामायनी' उसकी पूर्णाहुति है। यह कवि के जीवन की भी पूर्णाहुति है। मानो इसके बाद कवि को कहने के लिए कुछ न रह गया था और उसके जीवन की साधना मानवता के इस पूर्ण-से चित्र को हमारे सामने रखने के साथ समाप्त हो गई।

कामायनी का तात्विक आधार और उसकी धारणा बड़ी गूढ़ और विशाल है। ऐसी धारणा को काव्य के लिए चुनना कवि की शक्ति का प्रमाणपत्र है। साधारण आदमी के लिए तो इसे समझना भी कठिन ही है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण मानवता का काव्य है और न जाने कितने दिनों बाद हमारे साहित्य ने अपनी आत्मा का विराट रूप देखा है। कदाचित् रामचरितमानस के पश्चात् पहली बार

काव्य में हमने सच्ची मानवता की झलक देखी है और पहली बार काव्य को मानवता के निर्माण में इतना ऊँचा 'रोल' ग्रहण करते, इतना महत्वपूर्ण हिस्सा लेते पाया है। कामायनी कवि के जीवन का 'सर्व-संकलन' (sum total) है। इसमें उसका तत्वज्ञान, समाज रचना का उसका आधार, उसके जीवन का पौरुषमय उत्कर्ष और कल्यणकारी सौंदर्य सब व्यक्त हुआ है। इसमें कवि के जीवन का सत्य और जीवन की कला—दोनों का संग्रथन, सामञ्जस्य और विकास दिखाई पड़ता है।

'कामायनी' के परिपूर्ण दर्शन के लिए उस पर विस्तार से लिखने और उसकी विस्तृत तथा गहरी समीक्षा की आवश्यकता है। आगे हम इस पर विस्तार के साथ विचार करेंगे। यहाँ हम केवल काव्य की उस धारा की प्रगति दिखाना चाहते हैं जो कवि के काव्य में आरंभ से चली आ रही है और प्रत्येक रचना के साथ जिसका विकास होता गया है।

'लहर' का कवि धारा में आंदोलित था। यद्यपि उसमें भी उसकी भावनाएँ काफ़ी स्पष्ट हो गई हैं और काव्य का आधार अपेक्षाकृत दृढ़तर हुआ है फिर भी उसमें अवास्तविक और असत् के प्रति एक धुँधला आकर्षण है। जो चीज़ नहीं है, मिट गई है उसकी स्मृति के विद्युत्कण यहाँ-वहाँ जल उठते हैं। घाव ठीक हो गया है पर अपना चिन्ह छोड़ गया है। एक अनुरणन-सा व्यतीत एवं अपूर्ण जीवन में झंकृत है। पर इन प्रलोभनों, आकर्षणों, अस्थिरताओं के बीच भी कवि विकसित होता गया है और प्रतिक्षण उसने वास्तविक

मानवता के प्रति कला की सार्थकना की साधना को आगे बढ़ाया है। 'लहर' में कवि लहरों का—'मूड' का—कवि था। 'कामायनी' में कला स्वयं मनुष्मती हुई है अथवा यों भी कह सकते हैं कि मानवता स्वय कला के रूप मे मूर्त्त हो उठी है। यहाँ कवि जीवन के रहस्य और तत्त्व को पा गया है और अपने एवं मानव मात्र के सम्बन्ध में एक निष्कर्ष पर पहुँच गया है। सब 'किन्तु' 'परन्तु', 'यदि', और शंकाएँ शात हो गई हैं और जीवन एकाङ्गी, टुकड़े-टुकड़े में विभाजित न होकर सब पर छा जानेवाली एक परिपूर्णता की कल्पना में स्थित है।

कामायनी का नायक मनु और नायिका श्रद्धा है। मनु देव-सृष्टि का ध्वंस है; कामायनी काम की संतति है। अहकार और उन्माद की चरम सीमा पर पहुँची हुई देव-सृष्टि भयंकर जल-प्लावन में नष्ट हो गई है। केवल मनु बच गये हैं। वह हिमालय के एक ऊँचे शिखर पर बैठे हुए देव-सृष्टि के विनाश पर विचार कर रहे हैं। नीचे बाढ़ की लहरों का गर्जन अभी तक सुनाई देता है। मनु एक बौद्धिक प्राणी है पर इस सतत चिन्ता से वह भी शिथिल होजाता है। एक अभाव का क्षीण अनुभव उसे होता है। इसी चिंता के चित्र के साथ कामायनी का आरंभ होता है। ज़रा पहले परदे का पार्श्वचित्र देखिए। महान् हिमालय; हिम-धवल चोटियों पर प्रकाश की किरणें; नीचे समुद्र-गर्जन; इनके बीच एक महापुरुष जो भयंकर विद्युन्नर्तन, तूफान, पहाड़ों के कम्प और पतन के भीषण संघर्ष में भी बच रहा है और प्रकृति की भयंकरताओं के बीच भी जीवन-यात्रा

करने को तैयार है। कैसे विशाल चित्रपट के साथ काव्य का आरंभ हुआ है!

मनु एक बार अपने अतीत ऐश्वर्य का सिंहावलोकन करते हैं। वह देवों की उन्मत्तता, वह उनका विलास में डूबा हुआ जीवन, वे रत्नजटित महल, वे सुर-बालाएँ; वह शक्ति, कीर्ति की विपुलता; पाँवों तले पृथ्वी, वे बातें आज नष्ट हो गई हैं। कवि ने इस गत वैभव का बड़ा सुंदर वर्णन मनु से कराया है—

चलते थे सुरभित अंचल से
जीवन के मधुमय निश्वास।
कोलाहल में मुखरित होता
देव-जाति का सुख-विश्वास।
सुख, केवल सुख का वह संग्रह,
केंद्रीभूत हुआ इतना
छाया-पथ में नव-तुषार का
सघन मिलन होता जितना।
सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के,
बल, वैभव, आनंद अपार,
उद्वेलित लहरों-सा होता, उस,
समृद्धि का सुख-संचार।

× ×

× ×

स्वयं देव थे हम सब, तो फिर
क्यों न विशृंखल होती सृष्टि,
अरे अचानक हुई इसी से,
कड़ी आपदाओं की वृष्टि।
गया, सभी कुछ गया, मधुरतम-
सुर-बालाओं का शृंगार
उषा-ज्योत्स्ना-सा यौवन-स्मित,
मधुप-सदृश निश्चिन्त विहार।

× ×

चिर किशोर-वय, नित्य-विलासी,
सुरभित जिससे रहा दिगंत;
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह
मधु से पूर्ण अनंत वसंत ?
कुसुमित कुंजों में वे पुलकित
प्रेमालिंगन हुए विलीन;
मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें,
और न सुन पडती अब बीन।

विलास का बड़ा विशद वर्णन करने के बाद कवि मनु-द्वारा कहलाता है कि अचेत, उन्मत्त और कर्तव्यों के प्रति निश्चेष्ट होने के कारण विफल वासनाओ के वे प्रतिनिधि, अपनी ही ज्वाला में, जल गये। आज जल-प्लावन मे उनका पता नहीं। इस जल-प्लावन का बड़ा ही सजीव चित्र यहाँ हम देखते हैं—बिजलियों का कड़कना,

समुद्र की फेनिल लहरों का उछलना, घोर अंधकार, भयंकर आँधियाँ, प्रलयकारी वर्षा! पर इसी के बीच लहरों पर उछलती, टकराती, डूबने-डूबने को होती हुई मनु की नाव, जो अंत में ऊँची चोटी से लग जाती है। मानो चारों ओर कठिनाइयों से भरे संसार में अकेली मनुष्यता की यह यात्रा हो! इस यात्रा मे मृत्यु जीवन का विराट रूप है—

मृत्यु, अरी चिरनिद्रे! तेरा
अंक हिमानी-सा शीतल।
तू अनंत में लहर बनाती,
काल-जलधि की सी हलचल।
महानृत्य का विपम सम, अरी
अखिल स्पंदनों की तू माप।
तेरी ही विभूति बनती है,
सृष्टि सदा होकर अभिशाप।
अंधकार के अट्टहास-सी,
मुखरित सतत चिरंतन सत्य,
छिपी सृष्टि के कण-कण में तू,
यह सुन्दर रहस्य है नित्य।
जीवन तेरा क्षुद्र अंश है,
व्यक्त नील घन-माला में,
सौदामिनी-संधि सा सुन्दर,
क्षण भर रहा उजाला में।

ऐसे भयंकर जल-प्लावन के बाद मनु की जीवन-यात्रा पुनः आरंभ हुई है। चारों तरफ कठिनाइयाँ हैं; अभाव है; कोई सहायक या साथी नहीं। निराशा ही निराशा की परिस्थिति है पर इस कठिनाई और निराशा के बीच ही आशा का उदय हुआ है। प्रभात हुआ। सम्पूर्ण प्रकृति फिर से हँसने लगी। कवि का प्रभात-वर्णन बड़ा सुन्दर है—

उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई।

बर्फ के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ रही हैं। वायु मंद है। सारी प्रकृति ने अपना सौम्य रूप धारण कर लिया है। मनु की दृष्टि सब तरफ जाती है मन में प्रश्न होता है कि ये सूर्य, चंद्र, मरुत, वरुण इत्यादि किसके शासन में घूम रहे हैं? वह प्रलय-सा किसका भ्रू-भंग था जिसमें ये सब विकल हो गये थे और प्रकृति के शक्ति-चिन्ह होकर भी निर्बल सिद्ध हुए? उन्हें ज्ञान होता है—

देव न थे हम और न ये हैं
सब परिवर्तन के पुतले,
हाँ कि गर्व-रथ में तुरंग-सा,
जितना जो चाहे जुत ले।

सब परिवर्तन के पुतले हैं। पर इस परिवर्तन में भी नाना दृश्यों के बीच मनु की जिज्ञासा चल रही है—"इस महानील—आकाश—में ग्रह, नक्षत्र किसकी खोज कर रहे हैं। किस आकर्षण में खिंचे हुए ये छिप जाते और फिर निकलते हैं? सिर नीचा करके सब

किसकी सत्ता स्वीकार करते हैं ? हे अनन्त रमणीय ! तुम कौन हो ?

विराट रमणीयता के दर्शन से जिज्ञासा के साथ आशा उत्पन्न होती है। अपने अस्तित्व की प्रधानता का भाव जाग्रत होता है। 'मैं भी शाश्वत बन जाऊँ' यह भाव आता है। जीवन की प्रेरणा पुष्ट होती है। वह नीचे हरी तलहटी में जाते हैं, जहाँ फल-फूल, धान्य उग रहे हैं। वहीं एक गुहा में अपना आवास बनाते हैं। पास ही सागर है। फिर अग्नि जलने लगती है; अग्निहोत्र निरंतर चलने लगता है। मनु की तपस्या आरंभ होती है। देव-संस्कृति मानों फिर जाग उठती है और यज्ञादि होने लगते हैं। उनके मन में यह आशा उदय होती है कि कहीं मेरी ही तरह कोई और न बच रहा हो, इसलिए अग्निहोत्र से बचा हुआ कुछ अन्न थोड़ी दूर पर रख आते थे और फिर आकर उस अग्नि के पास मनन में लग जाते थे। कभी कोई नई चिंता आकर घेर लेती थी। नये-नये प्रश्न सामने आते थे जिनका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता था। फिर भी मनु अपने नियमित कर्म में लग गये। पर मन में एक अभाव का अनुभव बढ़ता गया। अनादि वासना नया रूप धारण करके मन में प्राकृतिक भूख के समान जगने लगी। तप से सञ्चित संयम का फल तृषित हो उठा। एक सूनापन अनुभव होने लगा—

कब तक और अकेले ? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो ?
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत,
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो !

सारी प्रकृति में एक रमणीयता की अनुभूति मनु को हो रही है। कुछ भूल गया हूँ, ऐसा अनुभव होता है। कवि ने इसका बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है।

जिस समय मनु का मन किसी अस्पष्ट प्रेरणा से अस्थिर है, उसी समय उसे काम-कन्या कामायनी (अथवा श्रद्धा) की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है जो पूछ रही है—"संसार-सागर के तट पर लहरों द्वारा फेंकी हुई मणि के समान तुम प्रकाश की धारा से निर्जन का शृंगार करनेवाले कौन हो ?......" मनु ने आश्चर्य के साथ देखा। इस दृश्य का वर्णन कवि यों करता है—

सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का-सा जब सानन्द,
किये मुख नीचा कमल समान,
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द।
एक झिटका-सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटे-से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।

सामने कामायनी के दर्शन हुए। कामायनी के रूप का कवि ने बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। यहाँ मैं केवल दो छंद देता हूँ—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग

खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।

मनु बड़ी निराशा के साथ अपना परिचय देते हैं। कहते हैं—"इस पृथ्वी और आकाश के बीच एक जलते उल्का के समान मैं भ्रांत और असहाय फिर रहा हूँ।" इसके बाद कामायनी का परिचय पूछते हैं। वह कहती है—"गंधर्वों के देश में रह कर ललित कलाएँ सीखने का उत्साह मन में था।......अपने सैलानी स्वभाव के कारण मैं घूमती-घूमती इधर आई और यहाँ के प्राकृतिक दृश्यों को देखकर आँखे तृप्त हो गईं। एक दिन एकाएक जल-प्रलय हुआ; पानी यहाँ तक आ गया; मैं अकेली निरुपाय थी। बाद में यहाँ बलि का कुछ अन्न पड़ा देखा जिससे अनुमान हुआ कि यहाँ भी कोई रहता है।... हे तपस्वी! तुम इतने दुखी और क्लांत क्यों हो? क्या तुम्हारे हृदय में जीवन की लालसा शेष नहीं है? तुम दुःख के डर से अज्ञात जटिलताओं का अनुमान कर काम से झिझक रहे हो। महाचिति स्वयं सजग होकर इस लीलामय आनंद को व्यक्त कर रही है। काम मंगल से भरा हुआ श्रेय और सृष्टि की इच्छा का परिणाम है। तुम उसका तिरस्कार कर भ्रमवश दुनिया को असफल कर रहे हो। दुःख की रात के पीछे सुख का प्रभात छिपा है।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत् की ज्वालाओं का मूल।
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल।

यह विश्व विषमता की पीड़ा से व्यस्त है। इसमें नित्य समरसता का अधिकार प्राप्त करने से सुख की सिद्धि होती है। फिर भी मनु अपने जीवन को अशक्त मान कर निराश-से हैं। तब फिर कामायनी—श्रद्धा—कहती है—"तुम इतने अधीर हो गये! जीवन का वह दाँव तुम हार बैठे जिसे वीर मर कर जीतते हैं। केवल तप ही जीवन का सत्य नहीं है।··प्रकृति के यौवन का शृङ्गार बासी फूलों से नहीं होता। वे तो धूल में मिल जाते हैं। प्रकृति पुरातन को सहन नहीं करती और परिवर्तन में नित्य नवीनता का आनन्द उसकी टेक है।

युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिन्ह चली गंभीर,
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

एक ओर तुम हो; दूसरी ओर प्रकृति के वैभव से भरा हुआ यह विस्तृत भूखण्ड है। कर्म का भोग और भोग का कर्म यही जड़-चेतन का आनन्द है। तुम अकेले कैसे हो? तपस्वी! आकर्षण से हीन होने के कारण ही तुम आत्म-विस्तार नहीं कर सके। तुम अपने ही बोझ से दबे हुए हो।······अच्छा मैं तुम्हारा साथ दूँगी—

समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पदतल में विगत विकार
दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ
तुम्हारे लिये खुला है पास।
बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी यह बेल।
विश्व यह सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल॥

इसके पश्चात् कामायनी कहती है कि देव-सृष्टि की असफलताओं के ध्वंस पर मानव-सृष्टि के चेतन राज की स्थापना होने दो। विश्व के हृदय-पटल पर अखिल मानव भावों का सत्य जो चेतना है उसका सुन्दर इतिहास दिव्य अक्षरों से अंकित होने दो। विधाता की कल्याणी सृष्टि इस पृथ्वी पर पूर्ण और सफल हो। सागर पटें, ज्वालामुखी चूर्ण हों। आज से मानवता की कीर्ति हवा, पृथ्वी और जल के बधन में न रह जाय। चाहे जल-प्लावन आवें; द्वीप डूबें उतरायें पर मानवता की दृढ़ मूर्ति अभ्युदय का, उन्नति का उपाय करती हुई निश्चल रहे।... शक्ति के जो विद्युत्कण बिखरे हुए हैं, निरुपाय हैं उन्हीं का समन्वय करो जिससे मानवता विजयिनी हो।'

इस तरह असफलताओं और कठिनाइयो के कारण निराश से हो रहे मनु में रमणीयता की अनुभूति के द्वारा किंचित् आशा जगी है और उस आशा को श्रद्धा के कारण बल मिला है। पुरुष के निराश एवं निरुद्देश्य जीवन में यह श्रद्धामयी नारी का प्रवेश है। देव-सृष्टि में काम का जो तीव्र दंश था, जिसमें केवल विलास था, वह यहाँ नहीं है। यहाँ नारी और पुरुष के उचित सम्बन्धों के बीच प्रेम की कला का विकास है। श्रद्धा उस प्रेम की कला की मूर्ति है।

उधर मनु के अदर वासना–'sex impulse'–का विकास हो रहा है। उनका मन एक अभाव का अनुभव कर रहा है। वह ध्यान लगाते हैं पर मन में अनेक तरह के विचार आ जाते हैं। उधर कामायनी ने घर में अन्न भर दिया है। अग्निशाला से मनु देखते हैं कि कामायनी एक पशु के बच्चे को साथ लिये चली आ रही है। वह बच्चा कभी उछलता कूदता आगे बढता है, फिर गर्दन उठाकर कामायनी की तरफ देखता है। कामायनी उसे प्रेम से पुचकारती है। मनु के हृदय में इसे देखकर एक ईर्ष्या का भाव आता है। यह पुरुष के अधिकार की प्यास है। उनके मन में यह भाव आता है कि विश्व में जो सरल सुन्दर विभूति हो सब मेरे लिए है। इतने में कामायनी निकट आ जाती है और प्रेम भरे स्वर में पूछती है कि "तुम अभी ध्यान ही लगाये बैठे हो ? पर यह क्या, आँख कुछ देखती हैं, कान कुछ दूसरी ओर हैं, मन कहीं है। आज यह कैसा रंग है ?" मनु की ईर्ष्या शांत हो जाती है। कामायनी को ग्रहण करने की तीव्र भावना बढ़ने लगती है। रमणीयता के भावों से मनु का हृदय भर जाता है। कामना प्रबल

होती है। मनु का मन उद्वेग से अस्थिर और चंचल हो उठता है। मनु पूछते हैं—

कौन हो तुम खींचते यों मुझे अपनी ओर;
और ललचाते, स्वयं हटते उधर की ओर।

× × ×

कौन करुण रहस्य है तुममें छिपा छविमान ?

× × ×

पशु कि हो पाषाण सबमें नृत्य का नवछंद
एक आलिंगन बुलाता सभी को सानंद।
राशि-राशि बिखर पड़ा है शांत संचित प्यार,
रख रहा है उसे ढोकर दीन विश्व उधार।

... ...

कामना की किरण का जिसमें मिला हो ओज
कौन हो तुम, इसी भूले हृदय की चिर खोज !

कामायनी बोली—"तुम इतने उद्विग्न तो कभी न थे। मैं तो वही अतिथि हूँ।·····आओ चलो, बाहर चलें। बाहर कैसी चाँदनी छिटकी है।"

देख लो ऊँचे शिखर का व्योम चुम्बन व्यस्त
लोटना अन्तिम किरण का और होना अस्त

कामायनी मनु को हाथ पकड़ कर बाहर ले गई। सारी प्रकृति आज एक नवीन रूप में दिखाई पड़ी। सर्वत्र रमणीयता के दर्शन होते हैं।

मनु के प्राण एक अतल में डूबे जा रहे हैं। कवि ने इसका कैसा सुन्दर वर्णन किया है—

कहा मनु ने—"तुम्हें देखा अतिथि ! कितनी बार
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार !"

× × ×

"मैं तुम्हारा हो रहा हूँ" यही सुदृढ़ विचार
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार।

× × ×

मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार,
पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधु-भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?
धमनियों में वेदना-सा रक्त का संचार,
हृदय में है काँपती धकड़न, लिये लघु भार !

× × ×

कौन हो तुम विश्व माया कुहक-सी साकार,
प्राण-सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार !

कामायनी कहती है—'सखे ! यह अधीर मन की अतृप्ति है। यह सब मत पूछो। देखो—

विमल राका-मूर्ति बनकर स्तब्ध बैठा कौन !

× × ×

विभव मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील
शिथिल है, जिस पर बिखरता प्रचुर मंगल खील
राशि-राशि नखत कुसुम की अर्चना अश्रांत
बिखरती है, ताम रस सुन्दर चरण के प्रांत।"

मनु ज्यों-ज्यों उस रात्रि में आँख गड़ाकर देखने लगे त्यों-त्यों उनके सामने रूप का विस्तार फैलता गया; जैसे मदिरा के कणों की वर्षा चारों ओर हो रही हो या मिलन का संगीत बज रहा हो।..... मनु आत्मार्पण करते हैं। यों नर-नारी के सम्मिलित जीवन का क्रम चलता है।

इस तरह हम देखते हैं कि कामायनी में कवि का प्रेम अपने मानवी आधार में पुष्ट एवं विकसित होता गया है। सृष्टि के इस मानवी आधार या मानवता की विजय-यात्रा में मनु चलते-चलते पुनः विद्रोह करते हैं। देव-सृष्टि के संस्कार फिर प्रबल होते हैं; मृगया की इच्छा जागती है। श्रद्धा या कामायनी से मन नहीं भरता। इसी निर्बंध विलास और अधिकार की स्पृहा के कारण वह भटकते, कठिनाइयाँ उठाते हैं। फिर भी उनका जीवन अशांत और अतृप्त ही रहता है। बुद्धि-भेद और बुद्धि-विलास के कारण वह अपने लिए किसी प्रकार का नियंत्रण, बंधन या नियम स्वीकार नहीं करते। वह श्रद्धा-हीन बुद्धि-विक्षेप के कारण उन्मत्त हैं। इसी के कारण वह कष्ट उठाते हैं। मृत्यु के मुख में पड़ जाते हैं पर श्रद्धा या कामायनी उनकी रक्षा करती है। और फिर दोनों अपनी जीवन-यात्रा की आख़िरी मंज़िल की ओर चल पड़ते हैं। अपने पुत्र को इड़ा के साथ ब्याह देते हैं और

स्वयं दोनों हिमालय के एक ऐसे उच्च खण्ड में पहुँचते हैं जहाँ से श्रद्धा की प्रेरणा के कारण मनु को भाव, कर्म और ज्ञान लोक नीचे की ओर दिखाई देते हैं। ये तीनों अपने-अपने में अपूर्ण हैं। कवि ने इन तीनों लोकों का अलग अलग दर्शन मनु को कराया है। पहले भाव लोक दिखाई पड़ता है—

वह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कंदुक-सा सुन्दर
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर
... ...
शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ
चारों ओर नृत्य करती ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ।
... ...
इस कुसुमाकर के कानन के
अरुण पराग पटल छाया में
इठलातीं सोतीं जगतीं थे
अपनी भावभरी माया में
... ...
यह जीवन की मध्य भूमि है
रस-धारा से सिंचित होती

मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पंदित होती
... ...
जिसके तट पर विद्युत्कण से
मनोहारिणी आकृति वाले,
छायामय सुषमा से विह्वल
विचर रहे सुन्दर मतवाले
... ...
घूम रही है यहाँ चतुर्दिक्
चलचित्रों-सी संसृति छाया,
जिस आलोक विंदु को घेरे
वह बैठी मुसक्याती माया।
... ...
यहाँ मनोरम विश्व कर रहा
रागारुण चेतन उपासना
माया राज्य ! यही परिपाटी
पाश बिछाकर जीव फाँसना
... ...
भाव भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पाप पुण्य की
ढलते सब स्वभाव प्रतिकृति बन
गल ज्वाला से मधुर ताप की।

नियममयी उलझन लतिका का
भाव विटपि से आकर मिलना
जीवन-वन की बनी समस्या
आशा नव कुसुमों का खिलना।

... ...

चिर-वसंत का यह उद्गम है
पतझर होता एक ओर है
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख दुख बँधते एक डोर हैं।

... ...

भावलोक के पश्चात् कामायनी मनु को कर्मलोक से परिचित कराती है:—

मनु, यह श्यामल कर्म-लोक है
धुँधला कुछ-कुछ अंधकार-सा
सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूमधार-सा।

... ...

कर्म-चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा,
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नई एषणा।

... ...

श्रममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल प्रवर्त्तन महायंत्र का
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तंत्र का।

... ...

नियति चलाती कर्म-चक्र यह
तृष्णाजनित ममत्व वासना
पाणि-पादमय पंचभूत की
यहाँ हो रही है उपासना।

... ...

यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।

... ...

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती
यहाँ भूख से विकल दलित को
पद तल में फिर-फिर गिरवाती।

... ...

यहाँ लिये दायित्व कर्म का
उन्नति करने के मतवाले

जला-जलाकर फूट पड़ रहे
ढुलकर बहनेवाले छाले।

... ...

इसके पश्चात् ज्ञानलोक के दर्शन होते हैं :—

प्रियतम! यह तो ज्ञानक्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि-चक्र, जिसमें न दीनता।

... ...

अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश
करते ये अणु तर्क युक्ति से,
ये निस्संग, किंतु कर लेते
कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से।

... ...

न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते
इस निदाघ मरु में सूखे से
स्रोतों के तट जैसे जगते।

... ...

मनोभाव से काय-कर्म का
समतोलन में दत्तचित्त से

ये निस्पृह न्यायासन वाले
चूक न सकते तनिक वित्त से।

... ...

अपना परिमित पात्र लिये ये
बूँद बूँद वाले निर्झर से
माँग रहे है जीवन का रस
बैठ यहाँ पर अजर अमर से।

... ...

देखो वे सब सौम्य बने हैं
किंतु सशंकित हैं दोषों से
वे संकेत दंभ के चलते
भ्रूचालन मिस परितोषों से ?

... ...

यहाँ अछूत रहा जीवन-रस
छूओ मत संचित होने दो
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा ! मृषा वंचित होने दो।

... ...

सामंजस्य चले करने ये
किंतु विषमता फैलाते हैं !

इच्छा, क्रिया, ज्ञान वाले ये तीनों लोक अपने-अपने में अपूर्ण हैं। और जब तक इनमें विषमता है, जब तक इनका सामञ्जस्य नहीं

हुआ है तब तक दुःख है, अशान्ति है, उद्वेग है, पीड़ा और प्यास है। जब ये मिल कर एक हो जाते हैं तब शुद्ध चेतना और शुद्ध आनन्द ही रह जाते हैं।

इस तरह कवि ने तूफ़ानी परिस्थितियों के बीच मानवता की विजय-यात्रा आरम्भ की थी। यह मानवता निराशाओं और कठिनाइयों के बीच ही उठी और बढ़ी है। यहाँ संसार से पलायन का मोह नष्ट हो गया है और संसार में जो दुःख था, जो विषमता, प्यास और पीड़ा थी, जो असंतुलन था, वह अनुभवों के कारण चेतना के ऊँचे स्तर पर पहुँच जाने से अपने-आप नष्ट होता गया है। वस्तुतः यह सब विषमता तभी तक है जब तक हम संसार को आत्म-बोध की सम्पूर्ण दृष्टि से देखने में असमर्थ हैं, जब तक हमारी चेतना अविकसित अथवा विकृत है और हम संकुचित या एकागी दृष्टिकोण से उसे देखते हैं। इस दुःख और द्वन्द्व का कारण यह है कि हम संसार को अपने से भिन्न और अपने प्रति विरोध से भरी कोई चीज़ समझ बैठते हैं। यह अपना है, यह पराया है, यह भाव भी इसी से उत्पन्न होता है, फिर जो अपना है उसके प्रति मोह और आग्रह बढ़ता है; जो पराया है उसके प्रति खीझ और झूठी विरक्ति आती है और हमें संसार में कलुष के दर्शन होते हैं।

कवि ने 'कामायनी' में हमारी इसी संकुचित दृष्टि को विशाल कर दिया है। उसने इस दुःख-द्वंद्व के प्रति हमें उचित एवं परिपूर्ण दृष्टि ग्रहण करने को, वाध्य किया है और इसका परिणाम यह है

कि वे द्वंद्व नष्ट हो जाते है । पूर्ण समरसता का अनुभव रह जाता है और मानवता की आनन्द की साधना पूर्ण होती है।

पर आनंद की यह साधना किसी तत्त्ववेत्ता अथवा योगी की साधना नहीं है। यह संसार से भाग कर संसार को देखने का क्रम नहीं है। यह इसी संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या, वासना इत्यादि के बीच ठोकर खाती और प्रति पग पर अनुभवों से दृढ़, संस्कृत और विकसित होती हुई साधना है। यह मानवता के बीच ही मानवता की विजय अथवा आनंद-यात्रा है। यहाँ मंगल का संदेश संसार से ऊपर उठ कर ही नहीं, संसार में ही प्रति पग पर, चलते हुए मिलता है। यहाँ संसार कोई वैदेशिक या परतत्व नहीं है, आत्मतत्व है। यह जगत् कोई दूसरा पक्ष नहीं है। कवि ने अन्त में इस सम्बन्ध में, संघर्षों के बीच विकसित होकर जाग्रत हो गये मनु से, कहलाया है—

शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।
चेतन समुद्र में जीवन
लहरों-सा बिखर पड़ा है,
कुछ छाप व्यक्तिगत अपना
निर्मित आकार खड़ा है।
...   ...
इस ज्योत्स्ना को जलनिधि में
बुद्बुद सा रूप बनाये,

नक्षत्र दिखाई देते
अपनी आभा चमकाये।

... ...

वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि-क्रम है
सब में घुल-मिलकर रसमय
रहना यह भाव चरम है।

... ...

अपने दुख-सुख से पुलकित
यह मूर्त विश्व सचराचर
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुंदर।

अंत में प्रकृति के विराट नृत्य के दर्शन के पश्चात् काव्य का अन्त होता है, जिसमें सब लोग पहचाने-से लगते हैं और जहाँ जड़ चेतन मे समरसता की अनुभूति है, जहाँ केवल चेतना ही चेतना है और अखंड आनन्द की अनुभूति है—

समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था।

'कामायनी' में कवि 'प्रसाद' के काव्य की पूर्णता है। उनके काव्य का आदर्श यहाँ परिपूर्ण हो गया है। उनका काव्य कुतूहल

के साथ आरंभ हुआ था। उसके बाद की कविताओं में एक जिज्ञासा हमें दिखाई देती है। यह जिज्ञासा ही क्रमशः पुष्ट, विकसित और संस्कृत होती गई है। जिज्ञासा से प्रीति होती है। यह प्रीति प्रकृति को लेकर उठी और दिन-दिन मानवी होती गई है। प्रकृति में भी मानवी स्पर्श और मानव-सापेक्ष्यता का अनुभव है। इस प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्ध से ही एक ओर प्रेम संस्कृत होता गया है, दूसरी तरफ़ सौन्दर्य की चेतना बढ़ती गई है। यह शुद्ध एवं चेतन सौंदर्य-बोध ही, जिसे दूसरे शब्दों में आनंद की अनुभूति कहेंगे, कलाकार अथवा कवि का इष्ट है। यह सम्पूर्ण मानवता का इष्ट है। प्रकृति-दर्शन में जो मानव सापेक्ष्यता रही है वही विकसित और पूर्णतर होती गई है और उसी के कारण अंत में कवि सम्पूर्ण प्रकृति के साथ पूर्णतः सामञ्जस्य स्थापित कर सका है और सब कुछ आत्म-रूप ही हो गया है। जो मानवता एक दिन अपनी क्षुद्रता में संकुचित और आबद्ध थी, संसार में रहकर ही विशाल और विश्व-रूप हो गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि 'प्रसाद' का सम्पूर्ण काव्य एक स्वस्थ चेतना की चरम एवं व्यापक अनुभूति को लेकर विकसित हुआ है और 'कामायनी' में आकर यह काव्य की धारा समुद्र में मिलनेवाली नदी की भाँति अपनी ही विराट परिणति में समाप्त हो गई है। यह मानवता के विकास की चरम अवस्था का चित्र है और यहाँ मानवता अपने विराट रूप का दर्शन कर अपने में ही समरस एवं परिपूर्ण है।

---

[७]

कवि 'प्रसाद' का गीति-काव्य

श्रेष्ठ काव्य में संगीत का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तुतः काव्य स्वतः सगीत है। काव्य और संगीत दोनों सृष्टि के मूल में और सम्पूर्ण सृष्टि-शरीर में जो सामञ्जस्य प्रति पग पर है, किन्तु जिसे न पाकर, न देखकर ही मनुष्य दुखी और वंचित-सा है, उसे व्यक्त करते हैं। इस सामञ्जस्य के कारण मानव-हृदय सृष्टि से तारतम्य का अनुभव करता है और यदि काव्य की साधना विशुद्ध और निर्लिप्त भाव से चलती हो तो सम्पूर्ण जगत् सगीत के प्रवाह से पूर्ण तथा आनन्द एव शक्ति का निकेतन-सा अनुभव होने लगता है। जब कवि को ईश्वर कह कर उसकी वंदना की गई थी, तब वह एक प्रशंसा का अतिरेक न था, उसमें एक गंभीर आध्यात्मिक सत्य को प्रकट किया गया था। जब कवि के काव्य में संगीत का सामञ्जस्य प्रकट होता है, तब वह जगत् के चिरतन लय से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और उसका जीवन आनन्द एवं शान्ति के चेतन प्रवाह में बदल जाता है।

चिरकाल से उस आत्मा और आनन्द की खोज में मानव के प्राण प्यासे-से छटपटा रहे हैं, संगीत में वह हमारे बहुत निकट होता है। उसमें हम अपने साथ बिल्कुल 'ऐट होम' होते हैं। उसमें हमें अपना आभास मिलता है। हम अपने को अपने में पाते हैं—

अपने में अपने को देख सकते हैं; अनुभव भी कर सकते हैं। इसीलिए अनादिकाल से संगीत हमारे जीवन की कुञ्जी की भाँति, हमारे अन्दर-बाहर, ऊपर-नीचे, चतुर्दिक व्याप्त होकर, हमारे साथ ही चल रहा है। और इसीलिए हम देखते हैं कि गीति-काव्य में मनुष्य को जो आंतरिक और इसीलिए सच्चा आह्लाद होता है, वह अन्य किसी काव्य-विधि में नहीं। यह हमारी कल्पना की उड़ान को ही नहीं प्रकट करता, हमारे अत्यन्त कोमल अन्तःस्तर को भी स्पर्श करता है। यहाँ केवल भावना नहीं, एक अनुभूति भी है। मानो मानव के चिर-पिपासित अबोले प्राण इसमें बोलते-बोलते कुछ बोल ही जाते हैं—उच्छ्वसित हो उठते हैं। अनन्तकाल से जो चीज़ मनुष्य के अति निकट है, जो सत्य उसके मन में अत्यन्त गोपनीय रहस्य-सा बना समा रहा है और जिसमें उसकी युग-युग की साधना, उत्कण्ठा, सफलता-असफलता की कहानी छिपी है—जहाँ सब मनुष्य एक स्तर पर हैं, उसकी स्मृति की ज़रा-सी चिनगारी, जुगनू की भाँति अँधेरे पार्श्वक्षेत्र के विपरीत चमक जाती है।

जब काव्य में मानव-हृदय का यह सत्य, यह चैतन्य आता है, तभी वह भीतर से आनन्द में ओत-प्रोत होकर प्राकृतिक झरने की तरह फूट पड़ता है और इस अनुभूति के कारण साहित्य, प्रकाश के पिण्ड के समान, जगमगा उठता है। आधुनिक हिन्दी-काव्य इस विषय में अत्यन्त निर्धन है। यह दुःख की ही बात है कि 'प्रसाद' और 'निराला' के नेतृत्व को हिन्दी ने ग्रहण नहीं किया। पंत और महादेवी ने संगीत का जो सामञ्जस्य अपने काव्य में किया है, उससे उनके काव्य में जो

मंजुलता, जो सुकुमारता आई है, उससे हिन्दी समृद्ध हुई है परन्तु हिन्दी के विशाल क्षेत्र में गीति काव्य के प्रति सामान्यतः दुर्लंघ्य बना ही हुआ है और न केवल रचना में वरन् समीक्षा में भी हम बहुत निर्धन-से हो रहे हैं।

कवि 'प्रसाद' ने अपनी प्रतिभा से हिन्दी के प्रत्येक क्षेत्र को समृद्ध किया है। जिसने नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध सभी कुछ सफलता-पूर्वक लिखे हैं, उसके लिए गीति-काव्य को छोड़ देना संभव न था। इस कवि में जो मस्ती है, भावना एवं अनुभूति की जो मृदुता है और मानव-जीवन के उत्कर्ष का जो गौरव है, उसे देखते हुए उसकी प्रतिभा गीति-काव्य की रचना के अत्यन्त उपयुक्त थी। उसने अपने जीवन के आरंभ में जो गीति-नाट्य लिखे, उनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि इस ओर उसकी रुचि बालपन से थी। इस कवि के काव्य-विस्तार एवं कविता की आत्मा को देखकर सहज ही कहा जा सकता है कि कवि ने संसार में जो कुछ मृदुल और रसमय है, उसे अच्छी तरह देखा और पाया था। वह कैशोर की आशा से प्रकाशित, यौवन के रस से स्निग्ध और वियोग के आँसू से धुला था। उसने सौन्दर्य को देखा और देखा। हमारे सयोग-वियोग, सुख-दुःख और प्रकाश-अंधकार से भरे हुए जीवन के बीच जो सौन्दर्य है, उसको देखने की उसमें शक्ति थी। गीति-काव्य के लिये कवि में जो सौन्दर्य-वृति (aesthetic sense) होनी चाहिए, वह कवि प्रसाद के जीवन में ओत-प्रोत थी। इस प्रकार के काव्य के लिए स्वानुभूति दूसरा अनिवार्य गुण है, जिसकी मात्रा 'प्रसाद' में पर्याप्त रूप से हम पाते

हैं। मतलब यह कि कवि में गीति-काव्य के सम्पूर्ण उपादान वर्तमान थे और यह क्षेत्र उसकी प्रतिभा के बहुत अनुकूल था।

इतनी बातों पर विचार कर लेने के बाद जब हम देखते हैं कि कवि ने गीति-काव्य के क्षेत्र में बहुत थोड़ी रचना की, तब हमें कवि को धन्यवाद देने की इच्छा नहीं होती। स्वतंत्र गीति-काव्य के रूप में एक 'आँसू' ही हमें उपलब्ध है। शेष जो कुछ है, उनकी स्फुट कविताओं के संग्रहों या नाटकों में गीत के रूप में यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। इन गीतों का कोई स्वतंत्र संग्रह भी नहीं है।

पर जहाँ तोल में कमी है, तहाँ मोल में कमी नहीं है। मात्रा थोड़ी है, पर जो कुछ है, वह ऐसी है कि हम उसे पाकर धन्य हैं। 'आँसू' आधुनिक हिंदी-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ गीति-काव्य है। इसका हिंदी ने न केवल खुले हृदय से स्वागत किया है, वरन् इसने हिन्दी की नवयुवक पीढ़ी पर अपनी गहरी छाप डाली है। वह प्रिय हुआ है और उसका अनुकरण करने की चेष्टा की गई है। इस विरह-प्रधान गीति-काव्य में कवि अपने जीवन की मृदुल रस-गंधमयी स्मृतियों की याद करके रोया है। उसका जो कुछ छिन गया है, उसके प्रति इसमें तीव्र वेदना और आग्रह है। सम्पूर्ण काव्य में कवि का जीवित स्पर्श हम पाते हैं। कहीं वह अपने को धोका नहीं दे सका है। उसके हृदय में जो रस चिरकाल से, अत्यन्त गुप्त और निजी बनकर संचित था, वह इसमें मानो हृदय के आवरण को तोड़कर, विधि-निषेधों के ऊपर हो प्रवाहित हो उठा है।

इसमें आग्रह है और दुःख है, परन्तु इसमें उस दुःख को सहन करने और उसे विजय कर ऊपर उठने की आकाङ्क्षा भी है। इसमें सम्पूर्ण मानव-जीवन का एक छोटा चित्र हम देखते हैं। एक दिन कवि विलास, वैभव और प्रेम से पुलकित है। दिन कब बीतते हैं और रात कब समाप्त हो जाती है, इसका मानों पता नहीं। यह भोग की अवधि एक दिन बीत जाती है। कवि बीते दिनों की याद में रोता और सिर धुनता है। फिर समझता है और अपने मन को समझाता है। दुःख पर यह जीवन की स्वाभाविक विजय है। अनन्तकाल से मनुष्य आनन्द के पथ में चल रहा है। उसकी आनंद की खोज सदा जारी है। 'आँसू' के रोदन में भी मानव की वह पिपासा कहीं नष्ट नहीं हुई है। चैतन्य की शोध इस दुःख में भी चलती रही है। इस प्रकार 'आँसू' न केवल एक भावना-अनुभूति-प्रधान गीतिकाव्य बन गया है, वरन् उसका विकास इस ढंग से हुआ है कि जीवन के सत्य की हत्या नहीं हुई है, जैसा प्रायः विरह-काव्यों में हम देखते हैं। उलटे इस आँसू में धुल कर जीवन का पथ निखर गया है और निसर्ग-प्रेरित यात्रा की पगडंडी फिर चलने लगी है।

'आँसू' पर हम अलग से विचार कर चुके हैं, इसलिए यहाँ ज़्यादा लिखना उचित न होगा। यहाँ मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि गीति काव्य के सभी प्रधान उपकरण 'आँसू' में हमें मिल जाते हैं। काव्य नायक के सौन्दर्य-बोध से भरा है और भावना एव अनुभूति की तो उसमें कहीं भी कमी नहीं होने पाई है। कल्पना में जहाँ कोमलता है, वहाँ जीवन भी है; भावना में जहाँ प्यास है, वहाँ

गहराई भी है; अनुभूति में जहाँ मनोनिवेश है, वहाँ आत्म-संवेदन भी है, और सम्पूर्ण काव्य आदि से अन्त तक संगीतात्मक (musical) है। कवि 'प्रसाद' की कविता में इतना प्रसाद गुण अन्यत्र बहुत कम मिलता है। विशेषता तो यह है कि इसमें सर्वत्र कल्पना, भावना एवं अनुभूति का अद्भुत समन्वय है। इसीलिए एक दार्शनिक, एक आध्यात्मिक संकेत भी है। मानव-जीवन से प्रति पग पर प्रकृति का सामञ्जस्य है। यहाँ प्रकृति मानव की अनुचरी है।

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में;
नक्षत्र-लोक फैला है
जैसे इस नील निलय में।

× ×

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी
उस ज्वालामयी जलन के;
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल
मेरे उस महामिलन के।

(किंचित आध्यात्मिक स्पर्श)

× ×

शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग-जल का;
यह व्यर्थ साँस चल-चलकर
करता है काम अनिल का।

(प्रकृति की अलंकृत मानव-सापेक्ष्यता)

× ×

प्रकृति की अलंकृत मानव-सापेक्ष्यता	बाडव ज्वाला सोती थी इस प्रेम-सिन्धु के तल में; प्यासी मछली-सी आँखें थीं विकल रूप के जल में। × × बुलबुले सिंधु के फूटे नक्षत्र-मालिका टूटी ; नभ-मुक्त-कुंतला धरणी दिखलाई देती लूटी।

× ×

किंचित् आध्यात्मिक स्पर्श	इस विकल वेदना को ले किसने सुख को ललकारा; वह एक अबोध अकिंचन बेसुध चैतन्य हमारा।

× ×

शब्दों की मृदुलता तो कहीं-कहीं अपूर्व है। विभिन्न शब्दों के एकत्र सयोग से न केवल पदों की अभिव्यंजकता बढ़ जाती है, वरन् उनमें एक ध्वनि, एक मीड़-सी पैदा हो जाती है। देखिए—

छिल-छिलकर छाले फोड़े मल-मलकर मृदुल चरण से ;
घुल-घुलकर बह-बह जाते, आँसू करुणा के कण से।
× × ×
निशि, सो जावें जब उर में ये हृदय व्यथा आभारी ;
उनका उन्माद सुनहला सहला देना सुखकारी।

सारा काव्य सुंदर उपमाओं, अलंकारों से अलंकृत है। देखिए—

विष-प्याली जो पी ली थी, वह मदिरा बनी नयन में,
सौन्दर्य पलक-प्याले का अब प्रेम बना जीवन में।

× × ×

कामना-सिंधु लहराता छवि पूरनिमा थी छाई;
रत्नाकर बनी चमकती मेरे शशि की परछाईं।

× ×

मादकता से आये वे संज्ञा से चले गये थे।

× ×

बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों से;
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा आज हीरों से?

स्थानाभाव-वश यहाँ बहुत थोड़े उदाहरण दिये जा सकते हैं। सम्पूर्ण काव्य अपनी मृदुलता और माधुर्य में ओतप्रोत है। यह न केवल एक श्रेष्ठ गीति-काव्य है, वरन् जीवन का एक तत्वज्ञान भी इसमें है। यहाँ कवि निराशा के बीच हमारी आशा को पुष्ट करता है; दुःख के बीच सुख का संदेश देता है। यहाँ प्रेम आग्रही होकर भी जीवन के प्रति अपने संदेश को नहीं भूलता। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है, अंधकार में प्रकाश का उदय होता गया है। वासनाएँ मूर्च्छित होती गई हैं और आत्मार्पण का, कर्तव्य का भाव जाग्रत होता गया है। इसीलिए यहाँ विरह सच्चा विरह बन गया है। उसमें विष नहीं है; अमृत है। वह आत्मा को शिथिल, अचेत और प्रमादी नहीं बनाता, उसे बल देता और जाग्रत करता है। इसमें

दुःख भी उत्कर्ष का एक उपादान है और विरह भी मिलन की एक स्मृति है, जो कहती है कि फिर मिलन होगा, फिर विच्छेद होगा। यह जीवन का नृत्य है और इसी रूप में इसकी महत्ता है।

'आँसू' के अतिरिक्त कवि का कोई स्वतंत्र गीति-काव्य हमें उपलब्ध नहीं है, पर अपने ग्रंथों में जहाँ भी गायन या गीत लिखे हैं, वहाँ हमें जान पड़ता है कि यह कवि इस क्षेत्र में सहज ही सफल हो सकता था। यदि गीतों का संग्रह किया जाय तो उनमें कुछ तो ऐसे अवश्य होंगे, जिनकी गणना हमारे साहित्य में प्रथम श्रेणी के काव्य के अन्तर्गत की जा सके। इनमें संगीत है; इनमें रस है; इनमें ध्वनि है; इनमें अलंकार है। शब्द चुने हुए हैं और उनसे मिठास एवं रस टपका पड़ता है। यहाँ कुछ उदाहरण देने की आवश्यकता है—

सघन वन-वल्लरियों के नीचे।
उषा और संध्या-किरनों ने तार बीन के खींचे;
हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे;
स्फुट हो उठी मूक कविता फिर कितनों ने दृग मींचे।
स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नहीं उलीचे;
मानस-तरी भरी करुणा-जल होती ऊपर नीचे।

[कामना का गान। कामना, पेज १३

इसमें संगीत का अंश परिपूर्ण है और बाँसुरी के साथ इसका गायन अत्यंत मनोमोहक एवं श्रवण-सुखद होगा। अंतिम दोनों पंक्तियों में भावना, रस और अलंकार का समन्वय भी सुंदर है।

हृदय की नाव करुणा के जल से भरती जा रही है; ऊपर-नीचे होने लगी है। भला पलक के चुल्लुओं से स्मृति के सागर से कितना जल उलीचा जा सकेगा। यह तो बनता नहीं है।

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से खिंचे हुए बीन-तार कोकिल:
करुन रागिनी तड़प उठेगी सुना न ऐसी पुकार कोकिल!

× ×

हृदय धूल में मिला दिया है,
उसे चरण-चिन्ह-सा किया है,
खिले फूल सब गिरा दिया है,
न अब बसंती बहार कोकिल!

—स्कन्दगुप्त

उपर्युक्त गीत में संगीत की प्रचुर मात्रा है। इसे यदि विहाग में गाया जाय तो इसकी अन्तर्हित मधुरता श्रोता को मुग्ध कर लेगी।

सब जीवन बीता जाता है।
धूप-छाँह के खेल सदृश,
सब जीवन बीता जाता है।
समय भागता है प्रति क्षण में
नव-अतीत के तुषार-कण में
हमें लगाकर भविष्य-रण में
आप कहाँ छिप जाता है?
सब जीवन बीता जाता है।

× ×

वंशी को बस बज जाने दो
मीठी मीड़ों को आने दो
आँख बन्द करके गाने दो
जो कुछ हमको आता है।
यह जीवन बीता जाता है।

—स्कंदगुप्त में देवसेना

स्कंदगुप्त में और भी कई अच्छे गाने हैं परन्तु इनमें देवसेना का निम्नलिखित गाना विशेष महत्वपूर्ण है—

आह! वेदना मिली विदाई;
मैंने भ्रम-वश जीवन-संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।

छल-छल थे संध्या के श्रमकण
आँसू से गिरते थे प्रति क्षण
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।

श्रमित स्वप्न की मधुमाया में
गहन-विपिन की तरुछाया में
पथिक, उनींदी श्रुति में किसने
यह विहाग की तान उठाई?

लगी सतृष्ण दीठ थी सब की
रही बचाये फिरती कब की

मेरी आशा आह ! बावली !
तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन-रथ में,
प्रलय चल रहा अपने पथ में,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर—
उससे हारी होड़ लगाई।

यह एक टूटे हुए, पर प्रेम-प्लावित, स्त्री-हृदय की निराशा-जनक विदाई है। वह आशा लेकर आई थी, किन्तु जो कुछ युग-युग से बचाती और संचय करती आ रही थी, वह सब कमाई भी, आशा की वंचना में खो गई। जीवन-भर मधुकरियों की जो भीख एकत्र की थी, वह, भ्रमवश, लुटा दी। अब क्या है ? इस विदाई के समय वेदना भेंट में मिली है। अब सुख की सामग्री जुटाते-जुटाते थके हुए स्वप्नों की मधुर माया के बीच गहन विपिन के शीतल निकुज में बैठा हुआ, यह कौन पथिक विहाग की तान उड़ा रहा है ? मेरे जीवन-रथ पर चढ़कर प्रलय अपने मार्ग में चल रहा है। मैंने अपने दुर्बल पैरों के भरोसे उससे होड़ लगाई, पर उसमें तो हारना ही था।

एक निराश हृदय की जीवन-पथ पर यह कैसी करुणा से भरी हुई यात्रा है ? जीवन की सारी भीख चुक गई है और जहाँ से उसे मिलने की आशा थी, वहाँ वेदना विदाई में मिली है। जिसका आज सब कुछ खो गया है, सब कुछ समर्पित है; जिसने अपने निकट, अपने अन्तर्यामी के निकट कुछ छिपाकर, कुछ बचाकर नहीं रक्खा; जिसने

दिया ही दिया है और अपने लिए कुछ रक्खा नहीं है, उसके हृदय के सघर्ष का यह छोटा, आशिक चित्र है। ऐसा नहीं कि चित्र सम्पूर्ण है,—नहीं, वह अपूर्ण तो काफी है। उसमें काव्य के दूषण भी एकाध हैं। पर इन दूषणों की चर्चा हम आगे के लिए स्थगित करके यहाँ इसकी संगीतमयता, इसकी गीतिकाव्यात्मकता की ओर ही ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। इस गीति कविता—इस 'लीरिक'—में कवि की अभिव्यक्ति है; भावना की प्रचुरता है; प्रेममय जीवन का एक चित्र है और इन सब के बीच सङ्गीत है।

[खम्माच-तीन ताल]

तुम कनक-किरन के अन्तराल में
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?

नतमस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन रसकन ढरते
हे लाजभरे सौन्दर्य ! बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?

अधरों के मधुर कगारों में
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में
मधु सरिता-सी यह हँसी तरल।
अपनी पीते रहते हो क्यों ?

—चंद्रगुप्त में सुवासिनी

'प्रसाद' जी ने जितने मुक्तक गीत लिखे, मेरी समझ से उनमे यह सर्वोत्तम है। काव्य की दृष्टि से देखिए, संगीत की दृष्टि से

देखिए, भाव-गरिमा की दृष्टि से देखिए, कल्पना और शब्द-सौष्ठव की दृष्टि से देखिए—चाहे जिस दृष्टि से देखिए, यह अपने में एक अत्यन्त सजीव और पूर्ण गीत है। और इसका कारण भी है। यह रूप का चित्र है और जहाँ रूप का प्रश्न हो, 'प्रसाद' से अच्छा चित्रकार आधुनिक हिन्दी-साहित्य में दूसरा नहीं हुआ। लज्जा से भरे सौन्दर्य का, जो सब कुछ बोलते हुए भी चुप है और जिसके ओठों में हँसी की एक हलकी रेखा है; आँखों में कौतुक है, उसका यह कितना सजीव जित्र है। इसमें सौन्दर्यानुभूति के साथ कवि का ऐसा सामञ्जस्य हो गया है कि गाते-गाते एक नवोढ़ा लज्जा-भारावनता किशोरी आँखों में आ जाती है। इस चित्र में जीवन का स्पन्दन है। धमनियों में रक्त दौड़ रहा है, हृदय धड़क रहा है। आँखे ज़मीन की ओर झुकी हैं। कभी कभी कनखियों से देखती हैं और उस देखने में कुछ कहना चाहती हैं—जैसे कुछ सन्देश देती हैं।

[कजली-धुन कहरवा]

आज, इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा है।

मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम प्रलाप
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बंधन खोल रहा। आज० ॥
विछल रही है चाँदनी छवि-मतवाली रात
कहती कंपित अधर से, बहकाने की बात।
कौन मधु-मदिरा घोल रहा। आज० ॥

यौवन में कामनाएँ अंकुरित हो रही हैं। हृदय खिलना चाहता है। आज वह अपने का पार—'ट्रांसेंड'—कर जाना चाहता है। आज वह अपने में सीमित होकर रहने को तैयार नहीं है। उसे चाहिए वह जिसके सामने अपने को उँडेल कर, अपने को पूर्णतः रिक्त करके भी परिपूर्ण हो उठे। आज कैशोर की कली यौवन के पुष्प में परिणत हो गई है और उसकी उँनीदी आँखों में एक स्वप्न भर रहा है। आज यौवन के माधवी-कुंज में कोकिल बोल रहा है। कुंज में कम्पन है; वह मुखरित है। आज यौवन में, कण-कण में समाकर बोलनेवाला कोकिल मानों मधुपान करके पागल हो रहा है और प्रेम के प्रलाप के बीच हृदय, अपने आप, शिथिल हुआ जा रहा है। उसकी खिंचावट दूर होती जा रही है—वह निर्बन्ध, अनावृत हुआ जा रहा है। लाज के बंधनों की गाँठ खुलती जा रही है। रात छवि से मतवाली हो रही है, चाँदनी बिछली पड़ती है और काँपते अधर से बहकाने की बात कह रही है।

यौवन में कामना के अंकुरित होने का यह एक चित्र है। इसमें बाँध टूटना ही चाहता है और वासना का उठता हुआ स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

चन्द्रगुप्त में कल्याणी गाती है—

[कजली-धुन बनारसी कहरवा]

सुधा सीकर से नहला दो।
लहरें डूब रही हों रस में

रह न जायँ वे अपने बस में
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को वहला दो।
सुधा-सीकर से नहला दो॥

अंधकार उजला हो जाये
हँसी हंस माला मँडराये
मधु-राका आगमन कलरवों के मिस कहला दो।
सुधा-सीकर से नहला दो॥

करुणा के अंचल पर निखरे
घायल आँसू हैं जो बिखरे
ये मोती बन जायँ, मृदुल कर से लो, सहला दो।
सुधा-सीकर से नहला दो॥

इस गीत में शब्दों की योजना सुन्दर है। 'वहला दो' और 'सहला दो' शब्दों का उपयोग बहुत अच्छा हुआ है। चन्द्रमुख! अपने सुधा-सीकर से मुझे नहला दो। रूप-राशि! आज हृदय-सागर बहुत व्यथित और कम्पित है, ज़रा इसे वहला दो। यह शांत हो जाय। लहरें इसमें डूब जायँ। यह जो अँधेरा छा रहा है, वह उज्ज्वल, प्रकाशित हो उठे। हँसी की हंसमाला तीर पर मँडलाने लगे। कलरवों (मृदुवाणी) के बहाने पूर्णिमा के आगमन की बात प्रकट कर दो। लो, तुम ज़रा अपनी मृदुल हथेलियों से सहला दो तो करुणा के निखरे अंचल पर जो घायल आँसू बिखर रहे हैं, वे (तुम्हारे मृदु स्पर्श से) मोती बन जायँ।

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे!
जब सावन-घन-सघन बरसते
इन आँखों की छाया-भर थे!
वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे!

सुरधुन-रंजित नव-जलधर से
भरे क्षितिज व्यापी अम्बर से
मिले चूमते जब सरिता के
हरित कूल युग मधुर अधर थे!
वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे।

प्राण-पपीहा के स्वरवाली,
बरस रही थी जब हरियाली,
रस जलकन मालती-मुकुल से
जो मदमाते गंध-विधुर थे।
वे कुछ दिन कितने सुंदर थे!

इस गीत की शब्द-योजना देखिए। उसमें कैसी झनकार है; कैसा नाद है। स्मृतियाँ सजीव होकर बोलती हैं। कवि ने अतीत को जैसे बिल्कुल सामने ला दिया हो!

मेरी आँखों की पुतली में,
तू बनकर प्रान समा जा रे
जिसके कन-कन में स्पन्दन हो
मन में मलयानिल चंदन हो

करुना का नव-अभिनन्दन हो
वह जीवन-गीत सुना जा रे!
मेरी आँखों की पुतली में,
तू बनकर प्रान समा जा रे॥
खिंच जाय अधर पर वह रेखा
जिसमें अंकित हो मधु लेखा
जिसको यह विश्व करे देखा
वह स्मित का चित्र बना जा रे।
मेरी आँखों की पुतली में,
तू बनकर प्रान समा जा रे॥

× ×

और भी—

अरे! कहीं देखा है तुमने,
मुझे प्यार करने वाले को?

तथा—

अरे, आ. गई है भूली-सी,
यह मधु ऋतु दो दिन को।
छोटी-सी कुटिया मैं रच दूँ,
नई व्यथा साथिन को॥

इत्यादि पदों के साथ आरंभ होने वाले एवं अन्य गीत, जिनकी आलोचना 'लहर' पर विचार करते समय की जा चुकी है, गीति-कविता के गुणों से भरे हुए हैं। ये केवल गेय पद ही नहीं हैं, वरन् आधुनिक

हिंदी कविता में जो कुछ सुन्दर और सचय करने योग्य है, उसका भी अच्छा उदाहरण हमें इनमें मिलता है। कवि संगीत मे अधिक सफल अभिव्यक्ति कर सका है। और, जब हम उस वातावरण पर दृष्टि डालते हैं, जिसके बीच होकर कवि का स्फुरण और विकास हुआ, तब हमें इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं मालूम पड़ती। यह सारा वातावरण गदराई हुई वाटिका की भाँति है। इसमें जूही की सुगध है; आम्र-मंजरियों का यौवनोन्माद है। इसमें काँटे भी हैं, पर वे फूलों के भार से ढके हुए हैं। इसमें कोकिल बोलता है और श्यामा गाती है। ऐसे वातावरण में सगीत की अभिरुचि न हो, यह असंभव था। सगीत कला का वैभव है और जहाँ वैभव और काव्य हो वहाँ संगीत का पुट प्रायः होता है। फिर कवि 'प्रसाद' यद्यपि स्वयं संगीतकार न थे पर सङ्गीतज्ञ अच्छे थे। उन्होंने भारत के अनेक श्रेष्ठ सङ्गीतज्ञों और वाद्यकारों की कला देखी थी। वह श्रेष्ठ सङ्गीत में बड़ा रस लेते थे और उसके मर्मज्ञ थे। उनके दादा और पिता के यहाँ समय-समय पर अच्छे गवैयों का बैठना-उठना होता था और उनकी मित्र-मंडली में भी अनेक सङ्गीतज्ञ और सङ्गीत के रसिक थे।

ऐसा नहीं कि कवि के गीति-काव्य पूर्ण संगीत की कसौटी पर कसने पर निर्दोष ही ठहरेंगे। यह कहना मिथ्या दभ होगा। कवि के गीति-काव्य को देख कर यह स्पष्ट है कि यद्यपि वह सगीत के वातावरण में उठा पर सङ्गीतमय नहीं हो सका। सङ्गीत को उसने प्रकृततया (instinctively) अनुभव किया, उसे समझा पर उसकी

बारीकियों को, नाद के भीतर जो एक जीवित शक्ति है, उसको विकसित कर सकने के पूर्व ही ससार से विदा हो गया। भूमि उर्वरा थी; बीज अच्छा था; फस्ल खूब उग रही थी कि मृत्यु की भीषण उपल-वृष्टि ने सब का अंत कर दिया।

---

[८]

कवि 'प्रसाद' के काव्य में रूप और यौवन-विलास

मैं पहले भी कहीं लिख चुका हूँ कि कवि 'प्रसाद' सम्पूर्ण अर्थ में एक मानवीय कवि थे। उन्होंने जीवन को सम्पूर्ण आग्रह के साथ ग्रहण किया। उनके निकट जीवन के अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं है। इसीलिए हम देखते हैं कि अपने दुःख मे, विषाद में, हर्ष में, विलास मे कवि भूला हुआ है। सिवा 'प्रेम-पथिक' और 'झरना' की कुछ पंक्तियों के कहीं भी हम कवि को अनासक्त, आग्रह से शून्य और पूर्णतः समर्पित नहीं पाते हैं। उसका जीवन-चक्र अट्टालिकाओं और विलास-कुंजों के साथ प्रायः उलझ जाता है; इसीलिए जब प्रखर दोपहरी आई है और यात्रा में चटियल मैदान पड़ा है तो कवि कभी-कभी अपने को विरस पाता है। आरम्भ से उसके चारों ओर एक ऐसे लोक का विस्तार रहा, जिसमें वैभव था, विलास था, सुख था; जो यौवन की मदिरा से प्रमत्त, यौवन के ज्वार में चिन्ताहीन और यौवन के स्पर्श एव बोझ से मृदुल और शिथिल था। आगे जब जीवन रास्ते पर आया और वह यौवन की निशा देखते ही देखते स्वप्न की नाईं टूट गई और गलकर प्रकाश एव कर्कश कर्म-कोलाहल से भरे हुए प्रभात में विलीन हो गई, तब भी कुछ समय तक कवि जैसे उसी स्वप्निल ससार में पड़ा रहा। यह यौवन की खुमारी कवि के जीवन में

बड़ी देर तक, और थोड़ी-बहुत अन्त तक, रही है। जो लोग 'प्रसाद' जी को व्यक्तिगत रूप से जानते थे, वे इस आश्चर्यजनक-सी बात की गवाही देंगे कि उनको अपने जीवन, विशेषतः जीवन के पिछले काल में, जो प्रबल संघर्ष करना पड़ा, उससे कवि 'प्रसाद' (अपने काव्य मे) बहुत-कुछ, और कम से कम बाहर से, 'फार्म' में, अछूते हैं। उनका पिछला जीवन जब कठिनाइयों, संघर्षों एव कठोरताओ से पूर्ण था, तब भी, बहुत करके, काव्य में पुरातन विलास एवं वैभव की छाया है। काव्य के मूल में तो प्रभाव पड़ता ही है और कवि 'प्रसाद' के काव्य के मूल, वैसे ही उनके जीवन के मूल, में एक बौद्धिक वस्तुवाद की धारा धीरे-धीरे स्पष्ट होती गई पर ऊपर से, क्या जीवन और क्या काव्य में अपनी वास्तविकता और संघर्ष से अपने को यों अलग हमारे सामने उपस्थित करना कवि 'प्रसाद' की एक बड़ी सिद्धि ही कही जा सकती है। उनकी काव्य-सम्पत्ति का अधिकाश, अलग-अलग एक-एक कृति को लेकर देखे तो, ऊपर से जीवन के कोलाहल एव कर्म के आह्वान से सर्वथा अछूता दिखाई देता है। यह भी एक आश्चर्यजनक-सी बात लगती है कि व्यक्तिगत जीवन के संघर्ष ने भी कवि को जगत् की जीवन-धारा से अलग ही छोड़ दिया। संघर्ष को लेकर भी 'प्रसाद' जी कर्ममय जीवन के चैलेंज को स्वीकार नहीं कर पाये। इसीलिए साहित्य को प्रसाद जी का व्यक्तिगत नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन प्राप्त न हो सका। ऐसा क्यों हुआ, इस प्रश्न का उत्तर यहाँ देना अप्रासगिक होगा, अन्यत्र इसकी चेष्टा की जायगी पर ग़लतफहमी न हो इसलिए यहाँ

इतना कह देना चाहिए कि इस आश्चर्यजनक निस्संगता या तट-स्थता के मूल में सत्य से भागने की इच्छा नहीं थी बल्कि जीवन की एक बौद्धिक धारणा थी, जो जीवन के सत्य और कल्याण के लिए आवश्यक-सी बन गई थी।

कवि 'प्रसाद' के जीवन की उठान ही ऐसी थी कि उसमें हमें प्यास के साथ भी सतोष और संघर्ष के साथ भी एक निष्क्रियता या निस्सगता के दर्शन होते हैं। यह कवि की एक बड़ी सिद्धि है कि वह अपने कवि को जीवन की होड़ एवं प्रवंचना के निम्न स्तर से अलग रख सका। इस तटस्थ वृत्ति से हानि भी हुई है, हम देखते हैं कि कवि प्रबल आत्मानुभव में अपने को लय नहीं कर पाता है। उसके जीवन में प्रति पग पर वह सामञ्जस्य नहीं जो कवि को द्रष्टा और मंत्रदाता बना देता है। पर इस तटस्थ वृत्ति के कारण ही कवि 'प्रसाद' एक श्रेष्ठ मानव बन सके थे और इसी कारण वह अतीत का वैभव अथवा काव्य का विलास भी उनके व्यक्तिगत जीवन को बहुत कुछ निर्लिप्त छोड़ गया।

एक पैनी दार्शनिक दृष्टि पाकर भी प्रसाद जी के काव्य में मानवीय सुषमा, प्रधानत: जो परिष्कृत एव शुद्ध सौन्दर्य नहीं बन सकी, उसका कारण यही है कि उस सुषमा के साथ उनकी बौद्धिक समझ—Understanding—तो है पर उनका 'स्व' अलग ही अलग है। जब रमणीयता में मनुष्य अपने आग्रह एवं अस्तित्व को भूल जाता है और पूर्णतः अर्पित एवं निःस्व हो उठता है, तो वासनाएँ प्रेम हो जाती हैं और रमणीयता चिर-सौंदर्य बन जाती है। कवि 'प्रसाद' निस्सं-

रहस्य से पूर्ण इस गूढ़ सौन्दर्य से अलग हैं। उनका प्रकृति-दर्शन मानव-सापेक्ष्य होने से उनका काव्य मानव के रूप-वर्णन से भरा हुआ है। इस रूप-वर्णन में भी रमणीयता को ही लेते और व्यक्त करते हुए वह चलते हैं। हाँ, यह श्रेय की बात है कि जहाँ उनका रूप-वर्णन अत्यन्त वैभव एवं विलास के वातावरण से घिरा हुआ और मांसल है, वहाँ भी उसमें कहीं अश्लीलता नहीं आ पाई है।

कवि 'प्रसाद' का काव्य रूप के श्रेष्ठतम चित्रों से पूर्ण है। मेरा ख़्याल तो यह है कि इस विषय में, आधुनिक हिंदी कवियों में, कोई उन तक नहीं पहुँचता। सब मिलाकर हिंदी में 'रूप' के वह अत्यंत श्रेष्ठ चित्रकार थे। रूप की भिन्न-भिन्न कलाओं और अवस्थाओं के ऐसे मार्मिक और सजीव चित्र उनके काव्य में मिलते हैं कि पाठक का हृदय आनंद से भर जाता है। यह उनकी ख़ास कलम थी—ख़ास विषय था। रूप की कुछ कविताएँ तो ऐसी हैं कि अत्यन्त श्रेष्ठ सौन्दर्य-दर्शन से पूर्ण होने के कारण वे किसी भी साहित्य को गौरव प्रदान कर सकती हैं। उनका ऐसा एक गान, जिसे मैं उनकी सर्वोत्तम रचनाओं में स्थान देता हूँ, यह है—

गान

तुम कनक-किरन के अंतराल से,
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?

नतमस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस-कन ढरते,

हे लाजभरे सौन्दर्य ! बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों ?
तुम कनक-किरन के अंतराल से,
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?

अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल ध्वनि के गुंजारों में,

मधु-सरिता-सी यह हँसी तरल,
अपनी पीते रहते हो क्यों ?
तुम कनक-किरन के अंतराल से,
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?

—चंद्रगुप्त नाटक, पृष्ठ ११–१२

लज्जा से भरे हुए मौन यौवन का यह चित्र कितना बोलता-सा, कितना सजीव है। ओठों पर तरल मुस्कराहट है, आँखों में यौवन का हलका नशा और लुका-छिपी है। यौवन के घन से रस-कन बरस रहे हैं और लाज से भरा सौन्दर्य मौन है। इस मौन में भी वह कितना व्यक्त, कितना अभिनव हो उठा है।

कवि का एक छोटा-सा चित्र बहुत प्रसिद्ध है :—

शशि-मुख पर घूँघट डाले,
अंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली मे,
कौतूहल-से तुम आये !

—'आँसू', प्रथम संस्करण, छंद ४०

शब्द अपनी पूर्ण व्यंजना को लेकर इसमें उपस्थित हुए हैं। शब्दों के सुंदर निर्वाचन एवं सामञ्जस्य से एक श्रेष्ठ चित्र बन गया है। शशि, घूँघट, अंचल, दीप, गोधूली—शब्दों में कैसी सगोत्रता (affinity) है। जीवन के एक क्षण का चित्र होकर भी यह चिरन्तन हो उठा है। इसको लेकर कोई श्रेष्ठ चित्र-शिल्पी भारतीय नारी का सुदर तात्विक चित्र बना सकता है। इसमें रूप पर आवरण अतः नियत्रण है; अन्तर में प्रकाश है। प्रणय के जीवन में प्रवेश करते समय अंचल में छिपा दीप उसकी अर्चना, उपासनापूर्ण जीवन-भूमिका का द्योतक है।

कहीं-कहीं अलंकृत पद-योजना के द्वारा मानव-सापेक्ष्य प्रकृति-चित्र भी सुन्दर बन गये हैं। फिर भी मानव-सापेक्ष्य होने से उनमें मानवरूप की ही प्रधानता है—

बीती विभावरी जाग री!

अम्बर-पनघट में डुबो रही,—
तारा घट ऊषा-नागरी।
बीती विभावरी जाग री!
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधुमुकुल नवल रस गागरी।

(मानव-सापेक्ष्य प्रकृति-चित्र)

बीती विभावरी जाग री!

रूप-चित्र

अधरों मे राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बंद किये—
तू अब तक सोई है आली !
आँखों में भरे विहाग रे !
बीती विभावरी जाग री।

—'लहर', पृष्ठ १६

कहीं-कहीं इनकी कविता में उद्वेलित यौवन के अत्यन्त आग्रहपूर्ण चित्र हैं। जैसे—

आह रे, वह अधीर यौवन।
मत्त मारुत पर चढ़ उद्भ्रान्त,
बरसने ज्यों मदिरा अश्रान्त,
सिन्धु वेला-सी घन मंडली,
अखिल किरनों से ढककर चली,
भावना के निस्सीम गगन,
बुद्धि-चपला का क्षण नर्तन—
चूमने को अपना जीवन,
चला था वह अधीर यौवन !
आह रे ! वह अधीर यौवन।
अधर में वह अधरों की प्यास,
नयन में दर्शन का विश्वास,
धमनियों में 'आलिंगन मयी,
वेदना लिये व्यथाएँ नयी,

टूटते जिससे सब बंधन,
सरस-सीकर से जीवन-कन,
बिखर भर देते अखिल भुवन,
वही पागल अधीर यौवन!
आह रे! वह अधीर यौवन!
मधुर जीवन के पूर्ण विकास,
विश्व-मधुऋतु के कुसुम-विलास,
ठहर, भर आँखें देख नयी—
भूमिका अपनी रंगमयी,
अखिल की लघुता आई बन—
समय का सुन्दर वातायन,
देखने को अदृष्ट नर्तन
अरे अभिलाषा के यौवन!
आह रे! वह अधीर यौवन।

—'लहर', पृष्ठ १८-१९

इसमें कोई श्रेष्ठ चित्र नहीं है, पर यौवन-विलास का आग्रहमय वर्णन है। काव्य की दृष्टि से इसे बहुत महत्व नहीं दिया जा सकता। विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से इसे मैंने यहाँ दिया है।

'स्कंद गुप्त' (नाटक) में विजया स्कंद गुप्त को उसके तत्त्व-चिंतन पर फटकारती है। विजया उमड़ती नदी से भरा हृदय और यौवन लेकर अर्पण के लिए स्कंद गुप्त के चरणों में उपस्थित नारी है। उसके मुख से लेखक ने कहलाया है—"रहने दो यह थोथा

ज्ञान। प्रियतम ! यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय, विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है; उन्मुक्त आकाश के नील नीरद-मडल मे, दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते करते हम लोग तिरोहित हो जायँ ! और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी, जगत् की आँखों को थोड़े काल तक बन्द रक्खे ! वर्षा की बहिया-सी हमारे विलास का स्रोत चेतन के अस्तित्व को डुबो दे और हम लोगों की जीवन-तरी थिरकती हुई मनमानी चाल से बह निकले ! स्वर्ग-कल्पित अप्सरा और इस लोक के अनन्त पुण्य के भागी जीव भी जिस सुख को देखकर आश्चर्य-चकित हों, वही मादक सुख......हम लोगों को आलिंगन करके धन्य हो जाय !"

यह उद्दाम यौवन-विलास और उसके खोने पर उसकी लालसा-भरी स्मृतियाँ कवि के काव्य में पर्याप्त हैं। यह अंश, जो यहाँ उद्धृत किया है, उनके एक प्रतिनिधि-चित्र-सा है और विजया यौवन-विह्वल रूप का एक चित्र हमें आगे देती है—

अगरु-धूम की श्याम लहरियाँ
उलझी हों इन अलकों से;
मादकता-लाली के डोरे,
इधर फँसे हों पलकों से।
व्याकुल बिजली-सी तुम मचलो
आर्द्र हृदय-घनमाला से;

आँसू बरुनी से उलझे हों
अधर प्रेम के प्याला से।
इस उदास मन की अभिलाषा
अटकी रहे प्रलोभन से;
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर
उभ्कल रही हो जीवन से।
छवि-प्रकाश-किरनें उलझी हों
जीवन के भविष्य तम से;
ये लायेंगी रंग सुलालित
होने दो कंपन सम से।
बस आकुल जीवन की घड़ियाँ
इन निष्ठुर आघातों से;
बजा करें अगणित यंत्रों से
सुख-दुख के अनुपातों से।
उखड़ी साँसें उलझ रही हों
धड़कन से कुछ परिमित हो;
अनुनय उलझ रहा हो तीखे
तिरस्कार से लांछित हो।
यह दुर्बल दीनता रहे उलझी
फिर चाहे ठुकराओ;
निर्दयता के इन चरणों से,
जिसमें तुम भी सुख पाओ।

—'स्कंद गुप्त', पृ० १५७

कवि बीते हुए यौवन-विलास के क्षणों को अत्यंत दुःख और आग्रह के साथ याद करता है—

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना
इस हृदय-कमल का घिरना
अलि अलकों की उलझन में
आँसू मरंद का गिरना
मिलना निश्वास पवन में।
मादक थी, मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा,
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा।

—'आँसू', द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ७–८

नख-शिख तो नहीं पर नख-शिख-जैसा ही एक अलंकृत रूप-वर्णन 'आँसू' में देखिए—

बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से?

× ×

काली आँखों में कितनी
यौवन के मद की लाली
मानिक-मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली ?

× ×

तिर रही अतृप्ति जलधि में
नीलम की नाव निराली
काला-पानी वेला-सी
है अंजन-रेखा काली।

× ×

अंकित कर क्षितिज-पटी को
तूलिका बरौनी तेरी
कितने घायल हृदयों की
बन जाती चतुर चितेरी।

× ×

कोमल कपोल पाली में
सीधी सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसने भौं में बल देखा।

× ×

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे ?

है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुँगने को मुक्ता ऐसे ?

× ×

विकसित सरसिज-वन वैभव
मधु ऊषा के अंचल में
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल मे।

× ×

मुख-कमल समीप सजे थे
दो किसलय से पुरइन के
जलबिंद-सदृश ठहरे कब
उन कानों में दुख किनके ?

× ×

है किस अनंग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहु-लता या
तनु छवि सर की नव-लहरी ?

× ×

—'आँसू', द्वितीय संस्करण पृष्ठ १७-२०

ऐसी 'अनग के धनु की शिथिल शिंजिनी' जहाँ हो और जहाँ कल्पना के वे सब उपकरण हो, जिनको पाकर उमरख़ैयाम की ईरानी मदिरा योरप के रसिकों तक पहुँच सकी, तो यौवन का विलास क्यों न

वाणी में बोले ! कवि 'प्रसाद' का यौवन-विलास भी वैभव की स्मृतियों के चित्र-विचित्र 'बैक ग्राउण्ड' (पार्श्व भूमि) पर यों व्यक्त हुआ है—

हिलते द्रुमदल कल किसलय
देती गलबाँही डाली,
फूलों का चुम्बन, छिड़ती,
मधुपों की तान निराली।

× ×

मुरली मुखरित होती थी
मुकुलों के अधर विहँसते
मकरन्द-भार से दबकर
श्रवणों में स्वर जा बसते।
परिरंभ कुंभ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके
मुखचंद्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके।
थक जाती थी सुख-रजनी
मुखचंद्र हृदय में सोता
श्रम-सीकर सदृश नखत से
अम्बर-पट भीगा होता।
सोयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन-कुंज में मेरे

चाँदनी शिथिल अलसाई
सुख के सपनों से मेरे।

—'आँसू' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २२-२३

'लहर' की अनेक रचनाओं में रूप और यौवन-विलास के अत्यंत अलकृत चित्र मिलते हैं, परन्तु उसकी अन्तिम कविता—'प्रलय की छाया'—रूप-वर्णन में बहुत ऊँची उठी है। आधुनिक हिन्दी की कविताओं में इस जोड़ की, इस तरह की, चीज़ें बहुत कम होंगी। इस कविता के लिए कवि ने जो मुक्तवृत्त चुना है, वह भी विषय के अत्यन्त अनुकूल हुआ है। ओज एवं प्रवाह ऐसे वृत्त का प्राण है। उद्दाम वर्णन के लिए यह सर्वथा उपयुक्त है। 'प्रलय की छाया' में अपनी रमणीयता में मुग्ध रूपगर्विता नारी का सुन्दर रूप-वर्णन है। गुर्जर राजरमणी महत्वाकाक्षा एवं रूप-गर्व की साँपिन से डॅसी जाकर उन नशीले यौवन-क्षणों की याद करती है, जब—

निर्जन जलधि-वेला रागमयी संध्या मे—
सीखती थी सौरभ से भरी रंगरलियाँ।
दूरागत वंशी-रव—
गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी नावों से।
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रंध्र खोजती थीं रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को—हँसाने को।
पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गंध से—

कस्तूरी मृग-जैसी।
पश्चिम जलधि में
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानो चूमने को मुझको
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर।
नृत्यशीला शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड़कर दूर जा खड़ी हो हँसने लगीं।
मेरे तो,
चरण हुए थे विजडित मधु-भार से।
हँसती अनंग-बालिकाएँ अन्तरिक्ष में
मेरी उस क्रीड़ा के मधु अभिषेक में
नतशिर देख मुझे।
कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अंगलतिका में
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़तीं।
नन्दन की शत-शत दिव्य कुसुम-कुंतला
अप्सराएँ मानो वे सुगंध की पुतलियाँ
आ-आकर चूम रहीं अरुण अधर मेरा
जिसमें स्वयं ही मुसकान खिली पड़ती।
नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से।
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा

पी रही दिगन्तव्यापी संध्या-संगीत को।
कितनी मादकता थी ?
लेने लगी झपकी मैं
सुख-रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती,
जिसमें थी आशा
अभिलाषा से भरी थी जो
कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद में
जीवन-सुरा की वह पहली ही प्याली थी।
आँखें खुलीं;
देखा मैंने चरणों में लोटती थी
विश्व की विभव-राशि,
और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी।
वह एक संध्या थी
श्यामा-सृष्टि युवती थी
तारक-खचित नील-पट परिधान था
अखिल अनन्त में
चमक रही थीं लालसा की दीप्त मणियाँ—
ज्योतिर्मयी, हासमयी, विकल विलासमयी,
बहती थी धीरे-धीरे सरिता
उस मधु यामिनी में
मदकल मलय पवन ले-ले फूलों से
मधुर मरन्द बिन्दु उसमें मिलाता था।

चाँदनी के अंचल में
हरा-भरा पुलिन अलस नींद ले रहा
सृष्टि के रहस्य-सी परखने को मुझको
तारकाएँ झाँकती थीं।
शत शतदलों की
मुद्रित मधुर गंध भीनी-भीनी रोम में
बहाती लावण्य-धारा।
स्मर-शशि किरणें,
स्पर्श करती थीं इस चंद्रकान्त मणि को
स्निग्धता बिछलती थी जिस मेरे अंग पर
अनुरागपूर्ण था हृदय उपहार में
गुर्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों के
तिरते थे—
मेरी अँगड़ाइयों की लहरों में।
पीते मकरन्द थे
मेरे इस अधखिले आनन-सरोज का
कितना सोहाग था, कैसा अनुराग था ?
खिली स्वर्ण-मल्लिका की सुरभित वल्लरी-सी,
गुर्जर के थाले में मरंद वर्षा करती मैं।"

—'लहर', पृष्ठ ६५-६६

उद्दाम यौवन के चित्र इस कवि के हाथ प्रायः अच्छे उतरे हैं। जान पड़ता है, कवि ने जीवन को प्यार किया है और इस जीवन

में यौवन का स्वप्न मृग-नाभि में अन्तर्हित कस्तूरी की भाँति भर गया है। इस यौवन के स्वप्न-मंदिर में नवयौवना नारी की कमनीय मूर्ति की प्रतिष्ठा है। इसीलिए हम देखते हैं कि जहां प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में कवि ने अलकारों का उपयोग किया है, वहां भी अधिकतर उपमा, रूपक इत्यादि की ही अधिकता है और रूपकों में भी नारी-सापेक्ष्य प्रकृति की साग-रूपता का ही प्राधान्य है। जैसे सूर्योदय के पूर्व का एक चित्र देखिए—

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नही अभी तो प्राची की मधुशाला।
सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अँगडाई नीडों में अलस विहग मृदुगात।
रजनी-रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी! तू चल पडता लेकर टूटा प्याला।

—'लहर', पृष्ठ २१

क़रीब-क़रीब यही बात सध्या के चित्र में भी है—

अस्ताचल पर युवती संध्या की
खुली अलक घुँघराली है।
लो मानिक मदिरा की धारा
अब बहने लगी निराली है।
भर ली पहाड़ियों ने अपनी
झीलों की रत्नमयी प्याली।

झुक चली चूमने वल्लरियों
से लिपटी तरु की डाली है।
यह लगा पिघलने मानिनियों का
हृदय मृदु प्रणय रोष-भरा;
वे हँसती हुई दुलार-भरी
मधु लहर उठानेवाली है।

... ...

भर उठीं प्यालियाँ, सुमनों ने
सौरभ मकरन्द मिलाया है।
कामिनियों ने अनुराग-भरे
अधरों से उन्हें लगा ली है।
वसुधा मदमाती हुई उधर
आकाश लगा देखो झुकने,
सब झूम रहे अपने सुख में
तूने क्यों बाधा डाली है?

—ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ४५-४६

यौवन के प्रति कवि का आग्रह तो जगह-जगह है—

१—यौवन! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया।

—ध्रुवस्वामिनी, पृष्ठ ४०

२—मेरे जीवन के सुख-निशीथ!
जाते-जाते रुक जाना!

—'लहर', पृष्ठ ४२

३—पी लो छवि-रस-माधुरी सींचो जीवन-बेल,
जी लो सुख से आयु भर यह माया का खेल।
मिलो स्नेह से गले,
घने प्रेम-तरु तले।

—स्कन्दगुप्त, पृष्ठ ५४

काव्य या नाटक में जहाँ भी नारी के रूप या प्रवृत्तियों का वर्णन आता है, कवि 'प्रसाद' प्रायः सफल हुए हैं। उनके महाकाव्य—'कामायनी'—में भी नारी और लज्जा की बातचीत बड़ी सुन्दर है। शब्द बिल्कुल विषय के अनुकूल हैं। उनमें नज़ाकत और मृदुलता है। नारी लज्जा से मृदुल है। यही उसकी बाँध, उसकी रक्षा और नियंत्रण है। इसे पाकर वह फल से झुकी डाली की भाँति आत्मार्पण करती है।

(नारी कहती है)

नन्हें किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी,
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती-सी।
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
मन का उन्माद निखरता ज्यों,
सुरभित लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों?

वैसी ही, माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।
नीरव निशीथ में लतिका-सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाहें फैलाये-सी
आलिंगन का जादू पढ़ती।
किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग-कण राग-भरे
सिर नीचा करके गूँथ रही
माला जिससे मधु-धार ढरे।
पुलकित कदम्ब की माला-सी
पहना देती हो अन्तर में
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फलभरता के डर में।
वरदान-सदृश हो डाल रही
नीली किरनों से बुना हुआ,
यह अंचल कितना हलका-सा
कितने सौरभ से सना हुआ।
स्मित बन जाती है तरल हँसी
नयनों में भरकर बाँकपना

प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो
वह बनता जाता है सपना।

...   ...

तुम कौन ? हृदय की परवशता
सारी स्वतंत्रता छीन रही ?
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे
जीवन-वन से हो बीन रही।

(लज्जा कहती है)

इतना न चमत्कृत हो बाले !
अपने मन का उपचार करो।
मैं एक पकड़ हूँ जो कहती
'ठहरो, कुछ सोच-विचार करो।'
अम्बरचुम्बी हिम-शृङ्गों से
कलरव के बादल साथ लिये,
विद्युत् की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिये।
मंगल-कुंकुम की श्री जिसमें
बिखरी हो ऊषा-सी लाली
भोला सुहाग इठलाता हो
ऐसी हो जिसमें हरियाली।
हो नयनों का कल्याण बना
आनन्द-सुमन-सा विकसा हो

वासन्ती के वन-वैभव में
जिसका पंचम स्वर पिक-सा हो।
जो गूँज उठे फिर नस-नस में
मूर्च्छना-समान मचलता-सा
आँखों के साँचे में आकर
रमणीय रूप बन ढलता-सा।
नयनों की नीलम की घाटी
जिस रस-घन से छा जाती हो
वह कौंध कि जिससे अन्तर की
शीतलता ठंडक पाती हो।
हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का
गोधूली की सी ममता हो
जागरण प्रात-सा हँसता हो
जिसमें मध्यान्ह निखरता हो।
हो चकित निकल आई सहसा
जो अपने प्राची के घर से
बावली चन्द्रिका-सा बिछले
जो मानस की लहरों पर से।
फूलों की कोमल पंखुरियाँ
बिखरें जिसके अभिनन्दन में
मकरन्द मिलाती हो अपना
स्वागत के कुंकुम चंदन में।

कोमल किसलय मर्मर स्वर से
जिसका जयघोष सुनाते है
जिसमें अनंत अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।
मैं उसी चपल की धात्री हूँ
गौरव-महिमा हूँ सिखलाती
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे-से समझाती।

... ...

चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या स्फुट काव्य, क्या नाटक, क्या महाकाव्य सर्वत्र कवि प्रसाद के पीछे यौवन का चिरममत्व जीवन-रथ में बैठा हुआ चल रहा है। पर यह ममत्व सकुचित अथवा भावात्मक नहीं है। इसके मूल में कवि का अति मानवीय रूप, जीवन की !साधना और वास्तविकता है। इसीलिए उसके प्रेम में त्याग और आग्रह, आत्म-विसर्जन और अधिकार, भोग और निग्रह दोनों ही बातें हैं। उसके जीवन-मन्दिर का निर्माण वैभव की नींव पर हुआ और बाद में जब वह वैभव स्वप्न हो गया तब भी कवि उस विध्वंस पर बैठकर पर्याप्त समय तक अतीत की खुमारी मे उल्लसित रहा है।

प्रबल आग्रह से अतीत उसके निकट सदा वर्तमान ही बना रहा है। वह शुद्ध वर्तमान में, इच्छा करके भी, रह सकने में असमर्थ था। इसीलिए करुणा और विषाद से भरी रचनाओं में भी प्रहार वैभव की पार्श्वभूमि है। 'आँसू' इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। वहाँ भी कवि उजड़े प्रासादों में बैठकर रोता है और मल्लिका कुंजों में सिर धुनता है। यह कवि की महान् शक्ति का ही द्योतक है कि प्रबल जीवन-संघर्ष में पड़कर भी वह अतीत को भूलता नहीं, वर्तमान में अपने को खोता नहीं वरन् आवश्यकतानुसार अतीत और वर्तमान दोनों को लेता और दोनों को छोड़ता है। अतीत उसके वर्तमान की नींव, उसका जनक है। वर्तमान की डालियों, पुष्पों और पौधों में अतीत की जड़ों का रस है। यह अतीत तस्वीर-सा उसकी आँखों में बस गया है इसीलिए रूप और यौवन-विलास के चित्रों से उसका काव्य भरा पड़ा है। यह उन्नीसवीं शताब्दी की विरासत है जो बीसवीं शताब्दी की अस्थिरता और कर्म-कोलाहल में लालसा और हसरत से अपनी चढ़ती जवानी के दिनों को याद करती है और उसमें अवतरित और अभिव्यक्त है।

पर इसका यह मतलब नहीं कि इस ममत्व, इस यौवन विलास में कवि आत्म-रूप को भूल गया है। नहीं, उलटे इसके बीच उसने उसे आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षित रखा और विकसित किया है। यह चित्र का शृङ्गार-मात्र है; चित्र का प्राण नहीं है। इस अलंकृत एवं रंगीन पार्श्वभूमिका के बीच, जैसे रंगों की प्रतिकूलता—'कण्ट्रास्ट'—के लिए, कवि जीवन की निश्चल ज्योति लिये खड़ा है। भावनाओं के इस झंझा-प्रवाह में भी वह स्थिर है। ममत्व के बीच भी उसमें एक अद्भुत बौद्धिक निस्संगता दिखाई देती है। कलाकार रूप में मिलकर, सब में रस लेकर भी सब से अलग है। कवि के इस आध्यात्मिक आधार की चर्चा आगे की जायगी।

कामायनी-खण्ड

[१]

कामायनी की कथा

(SYNOPSIS)

[नोट—'कामायनी महाकाव्य है। उसकी धारणा बहुत ऊँची और विशाल है। उसमें वैसे तो मानवों के आदि पुरुष मनु द्वारा नूतन मानवी सृष्टि के प्रादुर्भाव की कथा है पर इस कथा के मूल में मानवता के विकास के आध्यात्मिक आधार की विवेचना भी है। कुछ कथा की प्रकृति और कुछ कल्पना की ऊँचाई, कुछ धारणा की विशालता के कारण 'कामायनी' साधारण पाठक के लिए बड़ा ही गूढ़ काव्य बन गया है। इसलिए इसको सरल करने के लिए आवश्यक है कि काव्य का सार हम संक्षेप में दे दें और बाद में उस पर विवेचना करें। इसीलिए यहाँ काव्य के कथा भाग को हम संक्षेप में दे रहे हैं। प्रत्येक सर्ग की कथा हमने अलग अलग दी है और इस तरह दी है कि भरसक काव्य की गति का एक संक्षिप्त दर्शन हो जाय। इसलिए शब्दों में भी बहुत थोड़े परिवर्तन किये गये हैं और यथा-संभव कवि के शब्दों का ही उपयोग किया गया है।—लेखक]

'कामायनी' में कुल १५ सर्ग हैं—

१—चिन्ता	२—आशा	३—श्रद्धा	४—काम
५—वासना	६—लज्जा	७—कर्म	८—ईर्ष्या.
९—इड़ा	१०—स्वप्न	११—संघर्ष	१२—निर्वेद
१३—दर्शन	१४—रहस्य	१५—आनन्द	

१—चिन्ता

हिमालय का एक ऊँचा शिखर है। उस पर एक शिला की शीतल छाँह में मनु बैठे हुए हैं। आँखे भीगी हैं। सामने की प्रलयंकरी बाढ़ को देख रहे हैं।......चिन्ता से मुख म्लान (कुम्हलाया हुआ) है। धीरे-धीरे जल-प्लावन दूर हो रहा है और पृथ्वी पानी के ऊपर निकलती आ रही है। महावट से बँधी हुई नौका अब ज़मीन पर है। मनु सोच रहे हैं कि यह कितना बड़ा परिवर्तन हो गया है। अब क्या होगा। सोचते-सोचते निराश हो जाते हैं,—एकात थका देता है। चिन्ता से खीझकर पूछते हैं (देव पुरुष को कभी चिन्ता से काम नहीं पड़ा था, यह उसकी पहली अनुभूति थी) कि 'ओ हृदय-गगन के धूमकेतु-सी (चिन्ते)! तू कब तक मुझसे मनन करावेगी। क्या मै उस निश्चिन्त अमर जाति का जीव आज चिन्ता करते-करते

मरूँगा ? अरी, तू कितनी गहरी नींव डाल रही है। तू ही बुद्धि, मनीषा, मति, आशा इत्यादि अनेक नाम से व्याप्त है।' इस चिन्ता से [illegible] कर मनु विस्मृति का आवाहन करते हैं और उनके मन में यह आकांक्षा उदय होती है कि मेरी चेतनता चली जाय।

स्मृति दुःख का स्थायीकरण है। जो सुख चला गया है [illegible] चिन्ता और स्मृति उसे पुनः पुनः जीवित कर देती हैं। मनु भी जितना ही अतीत सुख और वैभव का स्मरण करते हैं, उतना ही उनका दुःख बढ़ता जाता है। वह सोचते हैं कि मेरा जीवन कैसा असफल हुआ है। उन देवों की याद आती है जो मदोन्मत्त हो विलासिता के नद में तैरते रहते थे। वह स्वयं उन देवों के नेता भी भूले हुए थे। आज दुर्जय प्रकृति ने बदला ले लिया है। देव-सृष्टि ध्वंस हो गई है और उसका वैभव शून्य में विलीन हो गया है। अपनी अमरता के अहंकार में भूले हुए देवों का ध्वंस होगया है। सब कुछ स्वप्नवत् शून्य है। आत्म-विस्मृति के कारण सृष्टि विशृंखल हो रही थी। इससे आपदाओं का जन्म हो रहा था। आज सुर-बालाओं का वह मधुर शृंगार कहाँ है ? उनकी उषा-सी यौवन की मुस्कराहट और मधुपों-सा निर्द्वंद्व विहार आज कहाँ गया ? वासना की उद्वेलित सरिता कहाँ सूख गई ? चिर-किशोर तथा नित्य-विलासी देवों का मधुपूर्ण वसन्त आज कहाँ तिरोहित हो गया ?... वह मत्त विलास, वह अंग भंगी, वह सुरभित यौवन आज किधर छिप गया ? वे विकल वासना के प्रतिनिधि अपनी ही ज्वाला में जल गये। (यहाँ मनु उस वैभव और विलास का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए

उसकी याद करते हैं)। सम्पूर्ण देव-सृष्टि भयकर प्रलय मे डूब गई।—(यहाँ भयकर आँधी एवं जल-प्लावन का बड़ा ही उत्कट वर्णन मनु के मुख से कवि ने कराया है)। इसी आँधी और जल-प्लावन में मनु एक नाव लेकर भाग खड़े हुए। पर न डाँडे लगते थे, न पतवार काम देती थी। लहरों पर नाव उछलती थी; प्रबल थपेड़े लगते थे और नाव अब डूबी अब डूबी, यह हालत हो रही थी। भीषण वर्षा हो रही थी एव बिजलियाँ चमकती थीं। सारी सृष्टि भय से विकल थी। समुद्र के जीव विकल होकर उतरा रहे थे, जैसे सारा सिंधु अदर से कोई मथ रहा हो। कहीं कुछ दिखाई न देता था; चारों ओर जल ही जल था। किसी महामत्स्य ने नाव को एक धक्का दिया। उसी धक्के के कारण बह कर उत्तर गिरि के शिखर से नाव टकराई और देव-सृष्टि के ध्वसावशेष मनु ने उस शिखर पर आश्रय लिया। वह कहते हैं—

'आज अमरता का जीवित हूँ,
मैं वह भीषण जर्जर दंभ।'

और मृत्यु को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि ऐ चिरनिद्रे! तेरा अक हिमानी-सा शीतल है। तू काल-समुद्र की हलचल है। जगत् में जो महानृत्य चिरकाल से हो रहा है उसका विषम सम है। और अखिल स्पन्दनों की माप है। तू सृष्टि के कण-कण में छिपी पर उसके चिरतन सत्य की भाँति मुखरित है। यह जीवन तेरा एक क्षुद्र अंश है—

मरूँगा ? अरी, तू कितनी गहरी नींव डाल रही है। तू ही बुद्धि, मनीषा, मति, आशा इत्यादि अनेक नाम से व्याप्त है।' इस चिन्ता से खीझ-कर मनु विस्मृति का आवाहन करते हैं और उनके मन में यह आकांक्षा उदय होती है कि मेरी चेतनता चली जाय।

स्मृति दुःख का स्थायीकरण है। जो सुख चला गया है उसकी चिन्ता और स्मृति उसे पुनः पुनः जीवित कर देती है। मनु भी जितना ही अतीत सुख और वैभव का स्मरण करते हैं, उतना ही उनका दुःख बढ़ता जाता है। वह सोचते हैं कि मेरा जीवन कैसा असफल हुआ है। उन देवों की याद आती है जो मदोन्मत्त हो विलासिता के नद में तैरते रहते थे। वह स्वयं इन देवों के नेता बने भूले हुए थे। आज दुर्जय प्रकृति ने बदला ले लिया है। देव-सृष्टि ध्वंस हो गई है और उसका वैभव शून्य मे विलीन हो गया है। अपनी अमरता के अहंकार में भूले हुए देवो का ध्वंस होगया है। सब कुछ स्वप्नवत् शून्य है। आत्म-विस्मृति के कारण सृष्टि विशृंखल हो रही थी। इससे आपदाओं का जन्म हो रहा था। आज सुर-बालाओं का वह मधुर शृंगार कहा है ? उनकी उषा-सी यौवन की मुस्कराहट और मधुपों-सा निर्द्वंद्व विहार आज कहाँ गया ? वासना की उद्वेलित सरिता कहाँ सूख गई ? चिर-किशोर तथा नित्य-विलासी देवों का मधुपूर्ण वसन्त आज कहाँ तिरोहित हो गया ?...वह सब विलास, वह अंग भंगी, वह सुरभित यौवन आज किधर छिप गया ? वे विकल वासना के प्रतिनिधि अपनी ही ज्वाला में जल गये। (यहाँ मनु उस वैभव और विलास का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए

उसकी याद करते हैं)। सम्पूर्ण देव-सृष्टि भयंकर प्रलय में डूब गई।—(यहाँ भयंकर आँधी एवं जल-प्लावन का बड़ा ही उत्कट वर्णन मनु के मुख से कवि ने कराया है)। इसी आँधी और जल-प्लावन में मनु एक नाव लेकर भाग खड़े हुए। पर न डाँडे लगते थे, न पतवार काम देती थी। लहरों पर नाव उछलती थी; प्रबल थपेड़े लगते थे और नाव अब डूबी अब डूबी, यह हालत हो रही थी। भीषण वर्षा हो रही थी एवं बिजलियाँ चमकती थीं। सारी सृष्टि भय से विकल थी। समुद्र के जीव विकल होकर उतरा रहे थे, जैसे सारा सिंधु अंदर से कोई मथ रहा हो। कहीं कुछ दिखाई न देता था; चारों ओर जल ही जल था। किसी महामत्स्य ने नाव को एक धक्का दिया। उसी धक्के के कारण बह कर उत्तर गिरि के शिखर से नाव टकराई और देव-सृष्टि के ध्वंसावशेष मनु ने उस शिखर पर आश्रय लिया। वह कहते हैं—

'आज अमरता का जीवित हूँ,
मैं वह भीषण जर्जर दंभ।'

और मृत्यु को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि ऐ चिरनिद्रे! तेरा अंक हिमानी-सा शीतल है। तू काल-समुद्र की हलचल है। जगत् में जो महानृत्य चिरकाल से हो रहा है उसका विषम सम है। और अखिल स्पन्दनों की माप है। तू सृष्टि के कण-कण में छिपी पर उसके चिरंतन सत्य की भाँति मुखरित है। यह जीवन तेरा एक क्षुद्र अंश है—

'जीवन तेरा क्षुद्र अंश है'

व्यक्त नील घन-माला में

सौदामिनी-संधि सा सुन्दर,

क्षण भर रहा उजाला में।'

चिन्ता करते-करते मनु शिथिल एवं सुषुप्त हो जाते हैं। चिन्ता एवं निराशा की निद्रा बीत जाती है। और—

२—आशा

का उदय होता है। पराजित काल-रात्रि समाप्त हो जाती है और जय-लक्ष्मी सी सुनहली उषा आती है। त्रस्त प्रकृति के विवर्ण मुख पर फिर हँसी आई है। हिम-जटित शिखर कोमल आलोक में चमक रहे हैं। धूप होती है। हिम गलता है और जल से धुली वनस्पतियाँ भी दिखाई देने लगती हैं। मानो समस्त प्रकृति सोने के बाद उठकर प्रबुद्ध हो रही हो। पर अब भी पृथ्वी का थोड़ा ही भाग जल के बाहर हुआ है—

सिंधु सेज पर धरा वधू अब;

तनी संकुचित बैठी-सी

प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में

मान किये-सी ऐंठी-सी।

तब उस सुंदर प्राकृतिक एकान्त में धीरे-धीरे मनु का मस्तिष्क सजग हुआ। जिज्ञासा जाग्रत हुई कि ये सूर्य, चन्द्र, पवन, वरुण आदि किसके शासन से अपना कार्य कर रहे हैं और किसके क्रोध से

(प्रलय में) प्रकृति के ये शक्ति-चिन्ह निर्बल पड़ गये ! हम अपनी शक्ति का चाहे जो गर्व कर लें पर हम सब परिवर्तन के पुतले हैं। मनु सोचते हैं कि इस महानील विराट् आकाश-चक्र में ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका अनुसंधान करते घूमते हैं ? सब मौन होकर जिसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वह कौन है ?

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो,
भाव विचार न सह सकता।

धीरे-धीरे सृष्टि से एक सम्बन्ध बनता है। आशा उदय होती है। जीवन की पुकार अन्तस्तल में पुनः ध्वनित होती है। अपने अस्तित्व की भावना को उत्तेजन मिलता है।—जीवन की धारा तो टूटनेवाली नहीं—

मैं हूँ यह वरदान सदृश क्यों
लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'
शाश्वत नभ के गानों में।

वह सोचते हैं, जीवन की लालसा इतनी प्रबल क्यों होती जा रही है ? यह जीवन किसकी सत्ता को ज़ोरो से स्थापित—'असर्ट' करने लगा है ?

तब मनु उठते हैं और थोड़ी दूर पर नीचे, एक बड़ी स्वच्छ गुहा में अपना स्थान बनाते हैं। पास ही सागर लहरा रहा है।

अग्नि जलती है और निरन्तर मनु का अग्निहोत्र चलने लगता है। वह तप में अपना जीवन लगाते हैं। देव-यज्ञ चलता है और सुर-संस्कृति का एक छोटा संस्करण फिर उठ खड़ा होता है।

रह-रहकर मनु के मन में यह विचार आता है कि जैसे मैं बच गया हूँ, वैसे ही सभव है, कोई और बच गया हो इसलिए अग्निहोत्र का थोड़ा अन्न थोड़ी दूर पर, उस संभावित अपरिचित के नाम पर रख आते थे। इस जल-प्रलय के बाद वह उन्मत्तता दूर हो गई थी और अब सहानुभूति का भाव मन मे जाग्रत हुआ था। अब उनका रूप यह है कि सामने निरन्तर अग्नि जल रही है। उसी के निकट बैठे मनन किया करते हैं। रह-रहकर मन अशान्त, अस्थिर हो जाता है। यों ही दिन बीत रहे हैं। नित्य नई जिज्ञासा होती है, नये प्रश्न उठते हैं। अपूर्ण उत्तर मिलता है। संतोष एवं तृप्ति नहीं होती। पर अपने अस्तित्व की रक्षा में जीवन को व्यस्त रखना पड़ रहा है। तपस्वी मनु नियमित रूप से अपना कार्य करने लगे हैं। धीरे-धीरे कर्म-जाल विस्तृत हो रहा है। नियति के शासन में विवश होकर उनको जीवन-मार्ग पर चलना पड़ रहा है।

चाँदनी आती है। शीतल, मंद समीरण बहता है। उस प्राकृतिक एकान्त में मनु का कर्म चल रहा है पर इन सब का प्रभाव पड़ता है। किसी अतीन्द्रिय स्वप्नलोक का रहस्य आ-आकर उनके मन में उलझता है। हृदय में एक प्यास, अनादि वासना, मधुर प्राकृतिक भूख के समान, जगती है और अकेलापन दुखदायी हो उठता है; किसी चिर-परिचित को चाहता है। तप और संयम से संचित बल

तृषित है और रिक्तता का अनुभव करता है। सवेदन से चोट खाकर मनु का मन विकल है और अपनी बात किसी से कहना चाहता है—

खुलीं उसी रमणीय दृश्य मे
अलस चेतना की आँखें
हृदय-कुसुम की खिली अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें।

× ×

"कब तक और अकेले ? कह दो
हे मेरे जीवन बोलो ?
किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।

एकात मे मन घबड़ा उठा है। कुछ भूली-सी चीज़ वह खोजता है जो युग-युग से उसके जीवन से सम्बद्ध है (इस तरह जीवन की आशा या प्यास जगती है)।

३—श्रद्धा

जब मनु यों चिंतित और किसी के प्रति अन्तःपिपासा से विकल हैं तभी सामने से एक नारी-कण्ठ से निकला मधुर प्रश्न सुन पड़ता है—"अरे ! संसार-समुद्र के इस तट पर तरंगों द्वारा फेंकी मणि की भाँति तुम कौन हो ?" हृदय एक मधुर रस से भर गया। सामने देखते हैं तो गाधार देश के मुलायम नीलरोमवाले भेड़ों के चर्म से

ढकी हुई एक सुंदरी बाला खड़ी है (इस जगह सौंदर्य का सुदर वर्णन है)।

मनु ने कहा कि 'इस आकाश और धरती के बीच अपने विवश जीवन को लिये हुए मैं भ्रांत ज्वलित उल्का के समान असहाय घूम रहा हूँ। जीवन पहेली-सा उलझा हुआ है। अनजान-से मार्ग पर चला जा रहा हूँ। मैं क्या बताऊँ, क्या हूँ?—हाँ, वसत के दूत के समान तुम कौन हो?'

बाला कहती है—"मेरे मन में गंधर्वों के देश में रहकर ललित कलाएँ सीखने का उत्साह था और मैं सदा इधर-उधर घूमा करती थी। मन में कुतूहल जाग्रत था और वह हृदय के सुंदर सत्य को खोज रहा था। घूमती फिरती इधर निकल आई। हिम गिरि ने आकर्षित किया। पैर उधर बढ़ चले और शैलमालाओं का यह शृंगार देखकर आँखों की भूख मिट गई। कैसा सुंदर दृश्य है। मैं इधर ही रहने लगी। एक दिन अपार सिंधु उमड़ कर पहाड़ से टकराने लगा और यह अकेला जीवन निरुपाय हो गया। इधर से निकलते हुए बलि का कुछ अन्न मैंने वहाँ पड़ा देखा तो मन में आया, जीवों की कल्याण-चिन्ता में रत यह किसका दान है? तभी मैंने समझा कि अभी कोई प्राणी इधर बचा है। हे तपस्वी! तुम इतने थके, इतने व्यथित और इतने हताश क्यों हो रहे हो? तुम अज्ञात दुखों के भय से, कल्पित जटिलताओं का अनुमान कर, कामना से दूर भाग रहे हो। यह काम व्यक्त महाचिति का आनंद है। यह काम (कामना) मंगल से पूर्ण है—श्रेय है। यह सर्ग-इच्छा का ही परिणाम है।

भ्रमवश उसकी उपेक्षा कर तुम ससार को असफल बना रहे हो। दुःख की रजनी से ही सुंदर प्रभात का उदय होता है।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत् की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्य-वरदान,
कभी मत जाओ इसको भूल।

विषमता की पीड़ा से व्यस्त होकर ही यह महान् विश्व स्पंदित हो रहा है। यह दुःख ही सुख के विकास का सत्य है।"

तब मनु विषाद के साथ बोले—"तुम्हारी ये बातें मन में उत्साह की तरंगें उत्पन्न करती हैं किन्तु जीवन कितना निरुपाय है।"

आगन्तुक (कामायनी—श्रद्धा) ने स्नेह के साथ कहा—"अरे तुम कितने अधीर हो रहे हो! जिसको मरकर वीर जीतते हैं वह जीवन का दाँव तुम हार बैठे हो। केवल तप ही जीवन का सत्य नहीं है। नवीनता और सृष्टि ही इसके (जीवन के) रहस्य हैं। प्रकृति के यौवन का श्रृंगार कभी बासी फूल नहीं करते। प्रकृति नित्य नूतनता के रहस्य से पूर्ण है—

युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिन्ह चली गंभीर
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।

एक ओर तुम हो। दूसरी ओर यह प्रकृति-वैभव से भरा विस्तृत भूखण्ड है। कर्म का भोग और भोग का कर्म यही क्रम है। यही जड़

का चेतन आनन्द है। भला, तुम अकेले होकर यज्ञ कैसे कर सकते हो? हे तपस्वी! आकर्षण-हीन होने के कारण ही तुम आत्म-विस्तार नहीं कर सके। तुम अपने ही बोझ में दबे जा रहे हो। तब क्या तुम्हे सहयोग देना मेरा कर्तव्य नहीं हो जाता? सेवा का सार समर्पण है। संसृति-पारावार का यही पतवार है। इसलिए मैं अपना जीवन इसमें उत्सर्ग करती हूं। आज मेरा हृदय तुम्हारे लिए खुला है। दया, माया, ममता, मृदुता, विश्वास के रत्न ले लो और सृष्टि के मूल रहस्य बन जाओ। तुमसे यह बेल फैलेगी, जिससे संसार सौरभ से भर जायगा।······और क्या तुम विधाता का वह मंगल वरदान सुन नहीं रहे हो ('शक्तिशाली हो, विजयी बनो'), जो विश्व में गूँज रहा है? ऐ अमृत सन्तान! डरो नहीं। मंगलमय विकास स्वय ही अग्रसर है। देव-सृष्टि की असफलताओं का ध्वंस मानव-संपत्ति के रूप में पड़ा है। मन के चेतन राज को पूर्ण करो। ससार में सागर पटें, ग्रहपुज बिखरें, पर सब के ऊपर मानवता की कीर्ति विजयिनी होकर खड़ी हो। दुर्बलता बल बने और शक्ति के बिखरे विद्युत्कणों का समन्वय यों हो कि "विजयिनी मानवता हो जाय।"

४—काम

मनु के मन में अनादि वासना का, उनके अज्ञान में ही स्फुरण हो रहा है। अनादि सस्कार जाग्रत हो रहे हैं। उसी रात को मनु मानो स्वप्न में अपने आप कह रहे हैं—"हे जीवन-वन के मधुमय वसंत, तुम अंतरिक्ष की लहरों में बहते हुए, रात के पिछले पहरों, चुपके-

से कब आ गये थे ? क्या तुम्हें यों आते देखकर मतवाली कोयल बोली थी ?......जब तुम फूलों में अपनी हँसी बखेरते थे और झरनो के कल-कूज में अपना कल-कण्ठ मिलाते थे, तब उस उल्लास में कितनी निश्चिंतता थी ? वे फूल, वह हँसी, वह सौरभ, वह छूना निश्वास, वह कलरव, वह संगीत, और वह कोलाहल आज एकान्त बन गया है।" यह सब कहते-कहते मनु निराशा की एक साँस लेकर कुछ सोचने लगते हैं। मन की बात रुक जाती है पर अभिलाषा की प्रगति नहीं रुकती।—

"ओ जगत् के नील आवरण (आकाश)! तू ही इतना दुर्बोध नहीं है; रूप जितना ही आलोक बनता है, आँखों पर परदा पड़ता जाता है।..... कुंज झीम रहे हैं; कुसुमों की कथा चल रही है; अंतरिक्ष आमोद से पूर्ण है और हिम-कणिका ही मकरंद हो गई है। कमलों के गंध से भरी मधु की धारा जाली बुन रही है और मन-मधुकर उस कारागृह में फँस रहा है। अणुओं को एक क्षण विश्राम नहीं है। उनमें कृति का भीम वेग भरा हुआ है। उल्लास कितना सजीव है कि कंपन अविराम नाच रहा है।.....सृष्टि रहस्य से पूर्ण हो रही है; सभी आलोक मूर्च्छित हैं और यह आँख थकी-सी हो रही है। सौंदर्य से भरी हुई चंचल कृतियाँ रहस्य बनकर नाच रही हैं। ...यह लुभावनी, यह मोहिनी मैं अपने चतुर्दिक क्या देख रहा हूँ ? क्या यह सब जो मैं देख रहा हूँ वह छाया-मात्र है ? क्या सुंदरता के इस परदे में कोई अन्य धन रखा है ? हे मेरी अक्षय निधि ! तुम क्या हो, कौन हो ? क्या मैं तुम्हें पहचान न सकूँगा ?

इस सूने मरु-अंचल (रूपी हृदय) में तुम अन्तःसलिला की धारा के समान कौन हो ? मेरे कानों में जैसे चुपके-चुपके कोई मधु की धारा घोल रहा है और जैसे इस नीरवता के परदे में कोई बोल रहा है ? इसका स्पर्श मलय में भिलमिल के समान है जिसमें संज्ञा सोती जाती है। यह लज्जा कितनी चंचल है; किस नाज़ से घूँघट खींच रही है और स्वयं छिपकर मृदुल करों से मेरी आँखों को क्यों मींजती है ? इस शुक्र नक्षत्र की छाया में, क्षितिज पर छा रही श्यामल घटा उषा के समान, किस रहस्य को लिये हुए किरनों की काया में सो रही है ? किरनों के ऊपर वह कोमल कलियों के छाजन-सी उठती है और स्वर का मधु निस्वन यों सुनाई देता है जैसे दूर पर वंशी बज रही हो......।"

इस तरह मनु के मन में आकर्षण का उदय हो रहा है। मनु का मन उस प्रवाह में वहा जा रहा है। ज़रा वह फिर सजग होते हैं। तब अपने को सँभालते हुये फिर कहते हैं—"चाहे जो हो, मैं जीवन के इस मधुर भार को न संभालूँगा।.....क्या मेरी इन्द्रियों की चेतना आज मेरी ही हार बन जायगी ?......" फिर आदि वासना उदय होती है—"पीता हूँ, हाँ मैं यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा आसव पीता हूं। स्वप्नों का उन्माद तारा बनकर क्यों बिखर रहा है ?" इस प्रकार रजनी के पिछले पहरों में मनु की चेतना शिथिल होती जा रही है। मन को विश्राम कहाँ ? वह तो अपनी माया में चंचल है। जागरण-लोक भूल चला और स्वप्न-लोक का उदय हुआ। उसी स्वप्न-लोक मे मनु का मन उलझ गया। उसी स्वप्न में वह सुनते हैं। किसी (काम) की ध्वनि

सुनाई दे रही है—"मैं अब भी प्यासा हूं। मेरे अनुशीलन मे देव-सृष्टि नष्ट हो गई। वे देव मेरी उपासना करते थे; मेरा संकेत उनके लिए क़ानून था। मेरा विस्तृत मोह उनके विलास को बढ़ाता गया। मै काम उनका सहचर और उनके विनोद का साधन था। मैं हँसता और उन्हें हँसाता था। जो आकर्षण बनकर हँसती थी, वह अनादि वासना—रति—थी। इस प्रकार हम दोनों का अस्तित्व उस आरंभिक आवर्तन-सा था जिससे सृष्टि रूप धारण करती है।... पहले पहल वह मूल शक्ति सजग हुई थी और प्रत्येक परमाणु उसके अनुराग से परिपूर्ण हो उठा था। उस आकर्षण से सम्पूर्ण सृष्टि अनुरागमयी हो उठी। शैलों (पहाड़ों) के गलों में सरिताओं की भुज-लताएँ पड़ गईं। धरणी के ऊपर समुद्र का अचल पखे-सा बन गया। इस तरह सर्वत्र द्वैतभाव का उदय हुआ। तभी उस व्यक्त हो रही सृष्टि में हम दोनो भी भूख-प्यास से जगकर, रति-काम बन गये। रति तो सुर-बालाओं की सखी हुई। मै तृष्णा उत्पन्न करता था और रति तृप्ति का मार्ग दिखाती थी। इस प्रकार हम दोनों उनको आनन्द-समन्वय के पथ पर ले चलते थे। अब न वे अमर रह गये हैं, न वह विनोद है। पर चेतना बनी हुई है। मैं अनंग बना अपना अस्तित्व लिये भटक रहा हूँ। यहाँ आया हूँ—यह दुनिया कर्म की रंगस्थली है। यहाँ आवागमन एवं कर्म की परम्परा लगी हुई है। जिसमें जितनी शक्ति है, यहाँ ठहरता है। कितने ऐसे हैं, जो केवल साधन बनकर आरम्भ और परिणाम की कड़ी मिलाते हैं। वह उषा की सजल गुलाली, जो नीले अम्बर में, वर्णों के मेघाडम्बर बीच, घुल

रही है, उसे क्या तुम देख रहे हो ?.....मैं उद्गम की प्रारंभिक भँवर हूँ पर अब संसृति की प्रगति बन रहा हूँ और मानवी सृष्टि की शीतल छाया में अपनी भूली कृतियों का परिमार्जन करूँगा। हम दोनो ने परस्पर आदान-प्रदान से जीवन मे शुद्ध विकास का रूप ग्रहण किया है और इस जल-प्लावन के बाद प्रेरणाएँ अधिक स्पष्ट हो गई हैं। असल में जिसकी लीला विकसित हुई है वह मूल शक्ति प्रेम-कला थी। उसी का संदेश सुनाने को संसार में वह अमला (श्रद्धा) आई है। वह हम दोनो (काम-रति) की संतान है। वह जड़-चेतनता की गाँठ है; भूलों का परिमार्जन है; उष्ण विचारो की शीतलता है। उसे पाने की इच्छा हो तो उसके योग्य बनो—' कहती कहती वह ध्वनि चुप हो गई। मनु की आँखे खुल गईं। वह पूछने लगे—"हे देव ! कौन रास्ता उस तक पहुँचाता है ? और उस ज्योतिर्मयी को कोई नर कैसे पाता है ?" पर वहाँ उत्तर देने-वाला कौन था ? स्वप्न भग हो गया। मनु ने देखा तो प्राची में अरुणोदय हो रहा है।

५—वासना

इस प्रकार मनु का हृदय राग-विराग का संघर्षस्थल बना हुआ है। इस बीच श्रद्धा (सर्ग ३) उनकी अतिथि और सहयोगिनी है। उनके आश्रय में रहती है। मन के मूल मे जो राग है उसमें मनु का मन खिंच रहा है पर वह प्रयत्नपूर्वक उसे रोकना चाहते हैं। किंतु रागात्मक प्रकृति ऊपर उठी आ रही है।

दो हृदय यहाँ मिलने के लिए भ्रमवश पथिक के समान भटक रहे हैं, एक गृहपति और दूसरा विकार-हीन अतिथि है। पहला प्रश्न तो दूसरा उसका उदार उत्तर है। एक समर्पण में ग्रहण का भाव है; दूसरा प्रगति, जिसमें अटकाव—बाधा—उपस्थित है। अभी तक दोनों की जीवन-क्रीड़ा अपने-अपने सूने मार्ग पर चली जा रही थी; दोनों अपरिचित-से थे पर अब नियति दोनों में मेल चाहती थी। दोनों रोज़ मिलते-जुलते थे पर अब भी मानों कुछ बच रहा था; हृदय का गूढ़ रहस्य छिपा हुआ था।

सध्या का समय। तपोवन। सुदर क्षितिज पर रक्त गोलक-सा सूर्य डूबता हुआ। मनु ध्यान लगाये मनन करते हैं पर कानों में काम का सदेश भर रहा है। उधर अतिथि द्वारा गृह में पशु, धान्य इत्यादि एकत्र होने लगे हैं। अग्निशाला में बैठे मनु देखते हैं—एक चपल, कोमल बालपशु अतिथि के साथ फुदकता आ रहा है। कभी फुदकता हुआ आगे बढ़ जाता है, कभी लौटकर अतिथि के मुँह की ओर प्रेम से देखने लगता है। अतिथि प्रेम से उसे सहलाता है। देखते-देखते दोनों पास आगये। मनु के मन में ईर्ष्या जगती है कि इतना सरल सुन्दर स्नेह इस पशु के प्रति! मेरे अन्न से मेरे घर में ये पल रहे हैं। सब अपना भाग ले लेते हैं पर मैं कहाँ हूँ? मेरे हृदय का समस्त धन छीनकर ये दस्यु (चोर) निर्बाध सुख भोगना चाहते हैं।······नहीं, विश्व में जो भी सरल, सुन्दर, महत् विभूतियाँ हो वे सभी मेरी हैं। सभी को मुझे प्रतिदान करना होगा।"

(यों ईर्ष्या से अन्दर का राग प्रकट होता और अधिकार
एव ममत्व जाग्रत होता है)

इसी बीच वह क्रीड़ाशील अतिथि पास आ जाता है और मृदुस्वर में पूछता है—"अरे, तुम अभी तक ध्यान लगाये बैठे ही हुए हो ? और यह क्या, तुम्हारी आँख कुछ देखती है, कान कुछ सुनते हैं, मन कहीं है। यह क्या हुआ है ? तुम्हारी क्या हालत है।" इस मृदुता और निजत्वसूचक प्रश्न से ईर्ष्या का कड़ुआपन दब जाता है। मनु कहते हैं—"अतिथि ! तुम कहाँ थे ? यह तुम्हारा सहचर तुमसे चिरंतन स्नेह-सा गभीर होकर मिल रहा है। मानो किसी भविष्य की बात कह रहा हो। तुम कौन हो जो मुझे यों अपनी ओर खींचते हो और ललचाकर फिर हट जाते हो ? तुममें कौन-सा करुण रहस्य छिपा हुआ है कि लता-वृक्ष सभी तुम्हें छाया-दान करते हैं।......अहा पशु और पाषाण सभी में जैसे नया नृत्य हो रहा है और एक आलिंगन सभी को बुला रहा है। राशि-राशि (ढेर का ढेर) प्यार बिखरा पड़ा है।......हे वासना की मधुर छाया ! हे स्वास्थ्य, बल, विश्राम ! हे हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा ! तुम कौन हो ? जिसमें कामना की किरन का ओज मिला हुआ है, ऐसी इस भूले हृदय की चिर-खोज ! तुम कौन हो ?"

उस (अतिथि) ने उत्तर दिया—"मैं वही अतिथि हूँ; और परिचय व्यर्थ है। इसके लिए तो तुम कभी इतने उद्विग्न न थे। आज क्या बात है ? चलो बाहर देखो, बादलों के छोटे टुकड़ों पर सवारी किये वह हँसमुख चन्द्र आ रहा है। कालिमा धुल रही है—चलो

इस चंद्र को देखकर सब दुःखों की सब कल्पना को भुला दें।.....
चलो, आज इस चाँदनी में प्रकृति का यह स्वप्न-शासन, साधना का
यह राज देख आवें।" (इस अपनत्व से) सृष्टि हँसने लगी। आँखों
में अनुराग खिल पड़ा। अतिथि मनु का हाथ पकड़े हुए इस स्वप्न-पथ
पर आगे बढ़ा। देवदारु सुधा में नहाये खड़े थे, मानों सब जागरण की
रात का उत्सव मना रहे हों। माधवी की मृदु गंध पागल बनाये दे
रही थी (इन सब दृश्यों का प्रभाव मनु पर पड़ रहा है। उस एकान्त
में उनका मन अतिथि की ओर उमड़ रहा है)। वह कहते हैं—"तुम्हें
तो कितनी ही बार देखा है पर कभी इतनी मादक लुनाई तुम में
दिखाई न पड़ी थी—कभी तुम इतने सुन्दर न लगे थे। उसे पूर्व
जन्म कहूँ या अतीत जब मदिर घन में वासना के गीत गूँजते थे। जिस
दृश्य को भूलकर मैं अचेत बना हूँ वही कुछ इस ओर लज्जा के साथ
सकेत कर रहा है। मेरी चेतना में, मेरे अन्तर मे बार-बार यही आता
है कि "मैं तुम्हारा हो रहा हूँ।" आज चन्द्र की किरणें अमृत बरस
रही हैं, पवन में पुलक है; तुम समीप हो फिर प्राण इतने अधीर क्यों
हैं?......तुम विश्व की माया की साकार कुहक-सी कौन हो?"

तब मृदुल स्वर में अतिथि बोला—"सखे! यह अधीर मन की
अतृप्ति है। यह बात मत कहो, न पूछो। उधर देखो, विमल राका-
मूर्ति-सा कौन स्तब्ध बैठा है?......" मनु ज्यों-ज्यों रात्रि को आँखे
गड़ा कर देखने लगे उनको अनन्त मिलन का संगीत सुनाई देने लगा।
उनके कलेजे में बड़ी अशान्ति उत्पन्न हो गई। आवेश उनको बवंडर
(वात्याचक्र) के समान बाँधने लगा। उनके मन में ज़रा भी धैर्य न

रह गया। उन्होंने अतिथि का हाथ पकड़ लिया और बोले—"अरे! आज कुछ दूसरा ही दृश्य देख रहा हूँ। विस्मृति के सिंधु में स्मृति की नाव थपेड़े खा रही है।......हाँ, वह जन्म-संगिनी थी, जिसका श्रद्धा नाम था। (वही तुम हो); प्रलय में भी हम दोनों, इस सूने जगत् की गोद में, मिलने को बच रहे।......आह! आज हृदय वैसा ही हुआ जाता है। अपने को देकर आज तुम्हीं से अपना काम पा रहा हूँ। आज तुम चेतना का यह समर्पण ले लो! हे विश्व-रानी!..." पुरुष के इस उपचार से वह लज्जा-वश झुक चली। उसके अन्दर नारीत्व का मूल मधु भाव हँसने लगा। सिर झुकाकर वह बोली—"हे देव! क्या आज का समर्पण नारी-हृदय के लिए चिर-बंधन बनेगा? आह, मैं दुर्बल हूँ, कहो, क्या वह दान ले सकूँगी जिसे उपभोग करने में प्राण विकल हों?"

६—लज्जा

इस प्रकार पुरुष के कोमल स्पर्श एवं उपचार से जब अतिथि का चिरंतन पर दबा हुआ नारीत्व ऊपर उठ आया है और समर्पण की वाणी उसमें मुखरित हुआ चाहती है तब नारी की मानस-सखी सी लज्जा उसके मार्ग में बाधक होती है। नारी लज्जा से पूछती है—"कोमल पत्तियों के अंचल में जैसे नन्ही कली छिपती है......जैसे मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में मन का उन्माद निखरता है...; उसी तरह माया में लिपटी हुई और अधरों पर उँगली रखे हुए[1] तुम कौन

१—मानसिक नियंत्रण का इशारा।

हो? इस एकांत निशा में लता-सी अपनी बाँहें फैलाये और आलिंगन का जादू पढ़ती तुम कौन बढ़ती आ रही हो? न जाने किन इंद्रजाल के फूलों से राग भरे हुए सुहाग-कण लेकर तुम सिर नीचा किये हुए[1] वह माला गूँथ रही हो, जिससे मधु की धार बह उठे। तुम अंतर में, खिले हुए कदम्बों की माला-सी कोई चीज़ पहना देती हो जिससे मन की डाली अपनी फलभरता (फलों के बोझ) के डर से झुक जाती है। नीली किरणों से बुना हुआ, सुरभि में सना वह हलका-सा आँचल तुम वरदान के समान डाल रही हो। तुम्हारे कारण मेरे सारे अंग मोम होते जाते हैं; कोमल होकर मैं बल खा रही हूँ और अपने में ही सिमिट-सी रही हूँ। तुम्हारे कारण तरल हँसी केवल एक मुस्कराहट[1] बन जाती है; नयनों में एक बाँकपन आ जाता है और जो कुछ सामने देखती हूँ वह सब भी सपना हुआ जाता है। आज जब मेरे सपनों में सुख और कलरव का संसार पैदा हो रहा है, और अनुराग की वायु पर तैरता-इतराता-सा डोल रहा है; जब अभिलाषा अपने यौवन में उस सुख के स्वागत को उठती है और दूर से आये हुए को जीवन-भर के बल-वैभव का उपहार देकर सत्कार करना चाहती है, तब तुमने यह क्या कर दिया? इस समय यह छूने में हिचक क्यों है? देखने में पलकें आँखों पर क्यों झुक पड़ती हैं? कलरव-परिहास की गूँज ओठों तक ही आकर रुक जाती है। मेरे हृदय

१—लज्जा के उपादान।

की परवशता ! तुम कौन हो जो मेरी सारी स्वतंत्रता छीन रही हो और जीवन-वन में जो स्वच्छन्द पुष्प खिल रहे थे, उन्हें चुनती जा रही हो ?"

तब मानों श्रद्धा—नारी—के इन प्रश्नों का, छाया-रूप प्रतिमा (लज्जा) ने यों उत्तर दिया—"बाले ! इतनी मत चौंक ! अपने मन का उपचार कर। मैं एक पकड़ हूँ जो कहती है कि ठहर और सोच विचार ले। जिसमें अंबरचुम्बी हिमशृंगों से कलरव-कोलाहल साथ लेकर आनेवाली विद्युत् की प्राणमयी धारा, उन्माद लिये हुए, बहती है; जिसमें मंगल-कुंकुम की श्री और उषा की लाली की निखार हो और जिसमें ऐसी हरियाली हो कि भोला सुहाग इठलाता हो; जो आनंद के फूल-सा खिलकर आँखों का कल्याण कर रहा हो और जिसका स्वर वसत-ऋतु की वन-श्री में कोयल की कूक-सा हो, जो नस-नस में मूर्च्छना के समान मचलता हुआ गूँज उठे; नयनों की नीलम घाटी जिस रस-घन से छा जाती हो और वह कौंध जिससे हृदय की शीतलता को भी ठंडक मिले; जिसमें वसंत का उद्वेलन, गोधूली की ममता भरी हो, जिसमें जागरण प्रातःकाल-सा हँसता हो पर मध्यान्ह भी निखरा हुआ हो; जिसके अभिनंदन मे फूलों की कोमल पंखुरियाँ बिखर कर स्वागत के कुकुम चदन में अपना मकरंद मिला देती हों, कोमल किसलयो के शब्द जिसका जय-घोष सुनाते हों और जिसमें दुःख-सुख मिल कर उत्सव और आनंद मनाते हों जो चेतना का उज्वल वरदान है, जिसे सब सौन्दर्य कहते हैं और जिसमें अनन्त अभिलाषाओं के सपने जगते रहते हैं, उसी चपल यौवन की धात्री मैं

लज्जा हूँ। मै गौरव की महिमा सिखलाती हूँ और जो ठोकर लगने वाली है, उसे धीरे से समझाती हूँ।......मैं देवसृष्टि की रति हूँ जो अपने (पति) पंचवाण (काम) से वंचित हो सचित अतृप्ति-सी दीन हो रही हूँ। अपनी अतीत असफलता के अनुभव में अवशिष्ट रह गई हूँ। मैं उसी रति की तस्वीर-सी बची हुई लज्जा हूँ। मै शालीनता सिखाती हूँ; मतवाली हो रही सुदरता के पग मे नूपुर-सी लिपट कर उसे मनाती हूँ; मैं सरल कपोलों की लाली[1] बन जाती हूँ; आँखो मे अंजन-सी लगती हूँ। मैं सौन्दर्य के चचल किशोर की रखवाली करती रहती हूँ और—

मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ,
जो बनती कानों की लाली।"

तब पुनः नारी—श्रद्धा—पूछती है—"यह सब तो ठीक है पर क्या तुम बताओगी कि मेरे जीवन का रास्ता क्या है और संसृति की अधकार से भरी रजनी में प्रकाश की रेखा कहाँ है! मै आज इतना तो समझ पाई हूँ कि मैं दुर्बलता में नारी हूँ और अंगों की सुन्दर कोमलता के कारण मैं सब से हारी हुई हूँ पर मन भी एकाएक इतना शिथिल क्यों होता जाता है? घनश्याम के टुकड़ों-सी आँखों में जल क्यों भर उठता है? विश्वास रूपी वृक्ष की छाया में सर्वस्व समर्पण करके चुपचाप पड़ी रहने की ममता क्यों जगती है? मैं मानस की इस गहराई में निस्संबल होकर तिर रही हूँ और इन स्वप्नों से जागना नहीं चाहती। क्या नारी जीवन का यही चित्र है?......मै रुकती हूँ,

१—लज्जा के उपादन।

ठहरती हूँ पर सोच-विचार नहीं कर पाती। जैसे हृदय में कोई पगली-सी बैठी हर समय बकती हो। मैं जब कभी तोलने का उपचार करती हूँ, स्वयं तुल जाती हूँ और नर रूपी तरु से भुजलताओं को फँसाकर झूले-सी झोंके खाती हूँ। इस अर्पण में केवल उत्सर्ग का भाव है; मैं दे दूँ और फिर कुछ न लूँ, इतना ही।"

लज्जा कहती है—"नारी! ठहरो, तुम क्या कह रही हो? अपने आँसू के संकल्प से तुम जीवन के सोने-से सपने पहले ही दान कर चुकी हो। हे नारी! तुम केवल श्रद्धा हो। विश्वास रूपी स्वच्छ पर्वत के पगतल (तलहटी) में—जीवन के सुन्दर समतल में, अमृत-स्रोत-सी बहा करो। देव-दानव का जो संघर्ष होता रहा है उसे मिटाने के लिए आँसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रख देना होगा और तुमको अपनी मुस्कराहट की रेखाओं से यह संधिपत्र लिखना होगा।"

७—कर्म

उधर मनु फिर कर्म की ओर प्रेरित हुए। यज्ञ यज्ञ की कटु पुकार के कारण वह स्थिर न रह सके। कान में काम की कही बातें भरी थीं, मन में नई अभिलाषा भर रही थी, आशा उमड़ रही थी। मनु सोच विचार करने लगे। सोम-पान की प्यासी लालसा ललक रही थी, जीवन की अविराम साधना उत्साह से भरी हुई थी। श्रद्धा के उत्साह से भरे हुए वचन और काम की प्रेरणा दोनों के मिल जाने से उन्होंने कुछ का कुछ अर्थ कर लिया—तिल का ताड़ बना दिया। उन्होंने इन बातों का मनमाना अर्थ लगाया। बात यह है कि सिद्धान्त पहले बन जाता

है, फिर बुद्धि के सहारे उसकी पुष्टि हुआ करती है। मन जब अपना कोई मत निश्चित कर लेता है तब बुद्धि-बल से उसे प्रमाणित करता रहता है। फिर हवा में उसी की हिलकोर दिखाई देती है, जल में उसी की तरलता मालूम पड़ती है, अन्तरतम की वही प्रतिध्वनि आकाश में छा जाती है। तर्कशास्त्र की पीढ़ी सदा उसी का समर्थन करती है और कहती है—"यही सत्य है, यही उन्नति और सुख की सीढ़ी है।" हे सत्य! तू, यह एक शब्द कितना गहन हो गया है। तू मेधा के क्रीड़ा-पञ्जर का पालित सुग्गा है। सभी बातों में तुम्हारी खोज की रट लगी हुई है किन्तु तर्क के करों के स्पर्श से तू 'छुई-मुई' बन जाता है।

उस जल-प्लावन से दो असुर पुरोहित किलात और आकुलि बच रहे थे जिन्होंने बहुतेरे कष्ट सहे थे। मनु के यहाँ बँधे पशु को देख-देख कर उनकी आमिष-लोलुप रसना आँखों के द्वारा कुछ कहती थी। यानी पशु को देखकर उनकी जिह्वा में पानी भर जाया करता था। आकुलि ने कहा—"क्यों किलात! कंद-मूल खा-खाकर मैं कब तक रहूँ। मेरे सामने जीवित पशु खडा है—मैं कब तक यों लहू का घूँट पीता रहूँ। क्या कोई ऐसा उपाय नहीं कि मैं इसे खा सकूँ और बहुत दिनों पर एक बार तो सुख की बीन बजा लूँ?" तब किलात ने कहा—'देखते नहीं, उसके साथ मृदुलता, ममता की एक छाया सदा हँसती रहती है जो अंधकार को प्रकाश के किरन के समान दूर भगाती है।...तो भी चलो, आज मैं कुछ करके ही दम लूँगा और जो भी दुःख-सुख पड़ेंगे उन्हें सह लूँगा।' दोनों यह विचार करके उस कुंज-द्वार पर आये जहाँ मनु सोच रहे थे कि

—'कर्म-यज्ञ से जीवन के स्वप्नों का स्वर्ग मिलेगा पर पुरोहित कौन बनेगा ? किस विधि से यज्ञ करूँ ? यह मार्ग किस ओर जाता है ...?" मनु सोच ही रहे थे कि असुर-मित्रों ने पहुँच कर गंभीर मुख हो कहा—" जिनके लिए यज्ञ होगा, हम उनके भेजे आये हैं। क्या तुम यज्ञ करोगे ? फिर किसको खोज रहे हो ? पुरोहित की आशा में तुमने कितने कष्ट सहे हैं ?...चलो, आज फिर वेदी पर ज्वाला की फेरी हो।" मनु ने मन में सोचा—"परंपरागत कर्मों की वे लड़ियाँ, जिनमें जीवन-साधना की सुख की घड़ियाँ उलझी हैं, कितनी सुन्दर हैं; उनमें प्रेरणा से भरी हुई कितनी वृत्तियाँ संचित हैं। साधारण से कुछ अतिरंजित, गति मे मीठी जल्दी-सी, निर्जनता की उदासी काटनेवाली उत्सव-लीला होगी ! इसमें श्रद्धा को भी एक विशेष प्रकार का कुतूहल होगा।" यह सब सोचकर नवीनता का लोभी उनका मन नाच उठा।

यज्ञ समाप्त होगया। तब भी ज्वाला धधक रही थी। दारुण दृश्य था। खून के छींटे पड़े थे; हड्डियाँ इधर-उधर बिखरी थीं। उधर वेदी के पैशाचिक आनंद और इधर पशु की कातरवाणी से सारा वातावरण किसी कुत्सित प्राणी के समान बना हुआ था। सोमपात्र भरा था; पुरोडाश भी आगे रखा था पर श्रद्धा वहाँ न थी। तब मनु के सोये हुए भाव जगने लगे—"जिसका उल्लास मैं देखना चाहता था, वही अलग जा बैठी, फिर यह सब क्यों ?...तब चढ़ी हुई वासना गरजने लगी—'जिसमें जीवन का संचित सुख सुंदर रूप से मूर्त्त (प्रकट) हुआ है, हृदय खोलकर कैसे कहूँ कि वह अपना है ? वही प्रसन्न नहीं है। इसमें अवश्य कुछ रहस्य होगा। क्या वह

पशु मरकर भी हमारे सुख में बाधक होगा ? श्रद्धा रूठ गई तो क्या फिर उसे मनाना होगा या वह स्वयं मान जायगी ? मेरा रास्ता क्या है ? यह सोचते हुए पुरोडाश के साथ मनु का सोम-पान चलने लगा और अपने प्राण की रिक्तता को मादकता--नशे—से भरने लगे।

उधर श्रद्धा अपने सोने की गुफा मे दुखी लौटकर आई। उसमें विरक्ति भर रही थी और वह मन ही मन बिलख रही थी। लकड़ी के जलने से ज़रा-ज़रा प्रकाश होता था किन्तु वह लकड़ी भी ठंडी हवा के झोंकों से कभी बुझ जाती थी और उसी के सहारे कभी जल उठती थी। कामायनी—श्रद्धा—अपना कोमल चर्म बिछाकर उसी पर पड़ी हुई थी, मानो श्रम मृदु आलस्य को पाकर विश्राम कर रहा हो। जगत् अपने टेढ़े-मेढ़े मार्ग में धीरे-धीरे बढ़ता ही जाता है; धीरे-धीरे तारे खिल रहे हैं और चाँद निकल रहा है, रात्रि अपनी चाँदनी का अंचल पसार रही है। ऊँचे शैल-शिखरों पर चंचला प्रकृति-बाला हँसती है। जीवन की उद्दाम लालसा में व्रीड़ा (लज्जा) उलझी हुई है। एक तीव्र उन्माद और मन मथनेवाली पीड़ा है। हृदय में मधुर विरक्ति से भरी आकुलता है, फिर भी मन में स्नेह का अन्तर्दाह होता है। वे असहाय आँखें कभी खुलती, कभी मुँदती हैं। आज उनका स्नेह-पात्र स्पष्टतः कुटिल कटुता में खड़ा है। कामायनी सोचती है—"कैसा दुःख है कि मैं जिसे चाहूँ, वह कुछ और बना हो। जो दारुण ज्वाला जगी है, उसे बुझाने का उपाय कौन बतावेगा ?·····पवन के चरण काँपते हैं, नभ में मलिन उदासी है। अन्तरतम की प्यास बढ़ रही है और

युग-युग की असफलता का अवलम्ब लेकर चढ़ती है। संसार अपने ही विषम ताप से त्रस्त है; उदधि उद्वेलित है और लहरियाँ व्याकुल-सी लौट रही हैं। इस सघन धूम-मण्डल में यह ज्वाला कैसी नाच रही है मानो अन्धकार रूपी सर्प अपने मणि की माला पहिने हुए हो। यह विपमता ! यह चुभनेवाला अंतरग छल और निर्ममता ? जीवन के ये निष्ठुर दंश······हृदय का यह कैसा विराग-सम्बन्ध है, यह कैसी मानवता है ? क्या प्राणी के पास प्राणी के लिए यह निर्ममता ही बच रही है ? एक का संतोष दूसरे का रोदन बनकर क्यों हँसता है ? एक के दुर्व्यवहार को दूसरा कैसे भूलेगा ? गरल को अमृत बनाने का उपाय क्या है ?" यह सब सोचती हुई श्रद्धा लेट रही।

जब कामायनी यह सोच रही थी तब उधर मनु सोम-पान कर रहे थे। उससे उनकी वासना जाग उठी। अब भला मनु को वहाँ (कामायनी के पास) आने से कौन रोक सकता था ? कामायनी की खुली चिकनी भुजाएँ उनको आमंत्रण देती दिखाई देती थीं। उन्नत वक्ष मे, जो साँस लेने से ऊँचा-नीचा होता था, आलिंगन का सुख लहरों-सा तिरता था। यद्यपि सुकुमारी सो रही थी, सौंदर्य जाग्रत था।......मनु ने श्रद्धा की हथेली धीरे से अपने हाथ में ले ली और अनुनय भरी वाणी में बोले—"अरे, यह मानवती की कैसी माया है ? मैंने जो स्वर्ग बनाया है, उसे यों विफल न बनाओ, अप्सरे ! उस अतीत का नूतन गान सुनाओ। इस निर्जन में, चाँदनी से पुलकित चंद्र से भरे नभ के नीचे, केवल हम और तुम हैं। दूसरा कौन है ? आँखे मत बंद करो। यह आकर्षण से भरा

हुआ विश्व केवल हमारा भोग्य है। जीवन के दोनों किनारो में वासना की धारा को बहने दो। श्रम की, अभाव की दुनिया, उसकी सब व्याकुलता और यह भीषण चेतना जिस क्षण हम भूल सकें, वही स्वर्ग की अनतता बनकर मुसकाता है। यह देवों को चढ़ाया हुआ मधु-मिश्रित सोम लो, पिओ और हम नशे के झूलने पर झूलें।"

यद्यपि श्रद्धा जग रही थी, फिर भी उस पर मादकता छा रही थी; तन मन मधुर भावों के रस मे छककर डूब रहे थे। वह सहज भाव से बोली—"तुम यह क्या कहते हो? आज किसी भाव की धारा मे बहते हो, कल ही यदि उसमें परिवर्तन हो जाय तो फिर कौन बचेगा? तब शायद कोई नया साथी बनकर यज्ञ रचेगा। और फिर किसी देव के नाते किसी की फिर बलि होगी! कितना धोखा है? इससे हम अपना सुख पाते हैं पर इस अचला जगती के जो प्राणी बचे हुए हैं क्या उनके कुछ अधिकार नहीं हैं? मनु! क्या यही तुम्हारी उज्ज्वल नवीन मानवता होगी जिसमें सब कुछ ले लेना ही उद्देश्य है। यह कैसा मुर्दापन है?"

मनु बोले—"श्रद्धे! अपना सुख भी तुच्छ नहीं है। वह भी कुछ है। दो दिन के इस जीवन का वही सब कुछ है। इन्द्रिय की अभिलाषाएँ सदा सफल हों और हृदय की तृप्ति का गान हो। उस ज्योत्स्ना मे मीठी मुस्कराहट खिले, रोयें प्रसन्नता के उमग में भर जायँ, क्या वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है? यह तुम क्या कहती हो? मैं इस हिमगिरि के अचल में जिसे खोजता फिरता हूँ, वही अभाव इस चचल जीवन में स्वर्ग बन कर हँस रहा है। समस्त कृतियों—कार्यों की सीमा हमीं तो

है। यदि हमारी कामनाएँ पूरी न हों तो कर्म-प्रयास व्यर्थ है।"

श्रद्धा एक अचेतनता लाती हुई विनय से बोली—"यह भाव बचा जान कर ही क्या सृष्टि ने फिर से आँखें खोली हैं?.....अपने में सब कुछ भर कर व्यक्ति कैसे विकास करेगा? यह स्वार्थ भीषण है और यह अपना ही नाश कर देगा। मनु औरों को हँसते देखकर हँसो और सुख पाओ,—यों अपने सुख को विस्तृत कर लो और सब को सुखी बनाओ। यज्ञ-पुरुष का जो यह रचना-मूलक सृष्टि-यज्ञ है उसमें संसृति की सेवा का हमारा हिस्सा, उसी के विकास के लिए है। सुख को सीमित कर लोगे तो तुममें दुःख ही बच जायगा। यदि कलियाँ अपने दलों में सारा सौरभ छिपा लें तो यह सौरभ तुम्हें कहाँ मिले? अपने सुख और संतोष का मूल सग्रह नहीं है। तुम्हें इकलेपन में क्या सुख मिलेगा? इससे दूसरो के हृदय-पुष्प क्योंकर खिलेंगे?' बातें करते-करते हृदय उत्तेजित हो रहा था और मन की ज्वाला सहते हुए श्रद्धा के अधर सूख रहे थे। उधर सोमपात्र लिये हुए मनु अवसर समझ कर बोले—"श्रद्धे! पीलो; इससे बुद्धि के बधन खुल जायँगे। तुम जो कहती हो, वही करूँगा। सचमुच इकलेपन में क्या सुख है? इसके बाद मनु अनुनय-विनय से श्रद्धा के हृदय को उद्वेलित कर देते हैं। सोमपात्र मुँह से लगा देते हैं। फिर एक जलता हुआ चुम्बन अधरों पर—और अग्नि बुझ जाती है।

८—ईर्ष्या

श्रद्धा की उस क्षण-भर की चंचलता ने हृदय पर अपने अधिकार को खो दिया। अब वह मधुर रात केवल निष्फल अंधकार फैला रही

थी। अब मनु को शिकार के अतिरिक्त और कोई काम न रह गया था। उस दिन की हिंसा के बाद उनके मुँह में खून लग गया था। उनका अधीर मन केवल हिंसा ही नहीं, कुछ और भी खोज रहा था—वह अपने प्रभुत्व का सुख भी खोज रहा था। मनु के पास जो कुछ था, अब उसमें नवीनता नहीं रह गई, श्रद्धा का सरल विनोद अब अच्छा नहीं लगता था। कभी-कभी लालसाएँ उठतीं, फिर शांत हो जातीं। वह सोचते—"अपने उद्गम का मुँह बंद किये हुए अलस प्राण कब तक सोते रहेंगे? जीवन की यह चचल पर सदा रहनेवाली पुकार कब तक रोती रहे? श्रद्धा के प्रणय और उसकी सीधी-सादी आरंभिक अभिव्यक्ति से दिल संतुष्ट नहीं। उसमें व्याकुल आलिंगन नहीं; कुशल सूक्तियाँ नहीं; वह भावनामयी नव-स्फूर्ति नहीं जिसके कारण मुँह पर नई-नई मुस्कराहट रहती है; न अनुरोध है, न उल्लास है, न कोई नवीनता है। वाणी में चाव से भरी हिलोर कभी नहीं आती, जिसमें नवीनता नाचती और इठलाती हो। जब देखो, वहाँ शालियाँ एकत्र कर रही है। इससे कभी थकती नहीं। बीजों का सग्रह होता है और तकली चलती है। जैसे उसके लिए यही सब कुछ है; जैसे मेरा अस्तित्व ही न हो।"

× × ×

मनु शिकार से थककर लौटे थे। सामने ही गुफा-द्वार दिखाई पड़ रहा था पर और आगे बढ़ने की इच्छा न होती थी। मरा मृग नीचे डाल दिया, फिर धनुष-बाण इत्यादि भी अलग कर दिया और शिथिल-शरीर मनु बैठ गये।

उधर गुफा में श्रद्धा—कामायनी—हाथ मे तकली घुमाते-घुमाते सोच रही थी—"पश्चिम में संध्या की ललाई अब काली हो चली है पर वह अहेरी अब तक न आये। क्या चंचल जन्तु उनको दूर ले गया ?" श्रद्धा सोचते-सोचते अनमनी हो चली। मुँह केतकी के अन्दर के गूदे-सा पीला था; आँखों में आलस-भरा स्नेह था, शरीर कुछ दुबला था और उसमें लज्जा बढ़ गई थी। स्तन मातृत्व के बोझ से झुक रहे थे। वह मुलायम काले ऊनों का कोई वस्त्र बना रही थी। अंदर—गर्भ में—मधुर पीड़ा हो रही थी जिसे माता ही झेलती है। भावी जननी का सरस गर्व माथे पर श्रमबिंदु-सा झलक रहा था। महापर्व (प्रसव का समय) नज़दीक आ गया था। जब मनु ने, कुछ देर बाद, श्रद्धा का वह शिथिल रूप देखा तब कुछ बोले नहीं; अधिकार के साथ चुपचाप देखते रहे। श्रद्धा मानो उनका विचार जानकर मुस्करा पड़ी और मीठे स्नेह से बोली—"तुम दिन भर कहाँ भटकते थे ? क्या यह हिंसा इतनी प्यारी है कि देह-गेह, घर-बार सब भूल जाता है ? मैं यहाँ अकेली बैठी रास्ता देख रही हूँ—पैरों की आहट की ओर कान लगाये हुए हूँ, तब तुम अशान्त होकर मृग के पीछे जंगल में घूम रहे हो। दिन ढल गया पर तुम घूम ही रहे हो। देखो, घोंसलों में विहग-युगल अपने बच्चों को चूम रहे हैं। उनके घर में कोलाहल है, पर मेरा गुफा-द्वार सूना है। तुमको ऐसी क्या कमी है कि जिसके लिए तुम दूसरों के द्वार जाते हो ?"

मनु बोले—"श्रद्धे ! तुमको कुछ कमी नहीं पर मैं तो अभाव

का अनुभव कर रहा हूँ। कोई भूली-सी मधु-वस्तु जैसे घाव करके विफल कर देती है। जो पुरुष सदा से मुक्त रहा है वह कब तक यों अवरुद्ध श्वास लेगा? कब तक वह पंगु, गतिहीन बना टीले-सा पड़ा रहेगा? जब जड़-बधन-सा एक मोह प्राणों को कस लेता है तब और जकड़ने की आकुलता अधीर हो बंधन को तोड़ देती है।..... वह आकुलता अब कहाँ रह गई जिसमें सब कुछ भूल जाय? तुम तो आशा के कोमल तंतु के समान तकली में भूल रही हो। ऐसा क्यों हो रहा है? क्या मृग-शावकों के सुन्दर मृदुल चर्म तुम्हें नहीं मिलते? तुम बीज क्यों बीनती हो? मेरा शिकार का कार्य तो शिथिल नहीं हुआ, फिर यह पीलापन कैसा है? यह थकावट से भर जाने का काम क्यों? यह किसके लिए है? इसमें क्या भेद है?"

श्रद्धा बोली—"यदि कोई हिंसक तुम पर हमला करे और तुम अपनी रक्षा में उस पर अस्त्र चला दो, तो मै इसे कुछ समझ सकती हूँ पर जो निरीह जीकर भी कुछ उपकार करते हैं वे उपयोगी बनकर क्यों न जियें? मैं इसका अर्थ समझ न सकी। चमड़े हमारे नहीं, उनके आवरण क्यों न रहें? वे मोटे ताजे होकर जियें, उनके ऊन से हमारा काम चले, हम उनका दूध पियें। जिनको लाभ के साथ पाला जा सकता है उनके साथ द्रोह क्यों? यदि हम पशु से कुछ ऊँचे हैं तो ससार-सागर में हमे सेतु-सा बन जाना चाहिए।"

मनु बोले—"मैं यह तो नहीं मान सकता कि सहज-लब्ध सुख यो छूट जायँ और जीवन के संघर्ष में हम विफल रहें; मैं तुम्हारी

आँखों की तारिका में अपना चित्र देखूँ और मेरे मानस का मुकुर तुमसे ही प्रतिबिम्बित हो। श्रद्धे! यह नया संकल्प चल नहीं सकता। यह जीवन छोटा और अमोल है। जो सुख चल-दल-सा चंचल है, मै उसे भोग लेना चाहता हूँ। क्या तुमने स्वर्ग के सुखों पर होने वाला वह प्रलय नहीं देखा जिसमें फिर नाश और चिर-निद्रा है। तब विश्वास को इतना सत्य क्यों समझ बैठी हो? यह चिर-मंगल की अभिलाषा इतनी क्यों जग रही है? यह स्नेह क्यों संचित किया जा रहा है? किस पर तुम इतनी अनुरक्त हो? रानी, मुझे यह जीवन का वरदान, अपना दुलार, दे दो। तुम्हें केवल मेरी ही चिन्ता हो (दूसरों की नहीं)। बस मेरा एक सुन्दर विश्राम-भवन हो जिसमे मधु की धारा बहती हो।"

श्रद्धा बोली—"मैंने एक कुटीर बनाया है; चलकर देखो।" श्रद्धा हाथ पकड़ कर मनु को ले चली। गुफा के पास ही पुआलों से छाई एक झोंपड़ी। कोमल लताओं की डालें उसे सघन कुंज-सा बना रही थीं। उसमें खिड़कियाँ भी कटी हुई थीं। उसमें बेत की लता का एक झूला पड़ा हुआ था। ज़मीन पर फूल बिछे थे। मनु चकित होकर गृह-लक्ष्मी का यह नया गृह-विधान देख रहे थे। पर उनको कुछ अच्छा नहीं लगा। सोचा—"यह क्यों? किसके सुख के लिए?" पर श्रद्धा बोल उठी—"देखो, यह घोंसला तो बन गया पर इसमें कलरव करनेवाली (बच्चों की) भीड़ अभी नहीं है। जब तुम दूर चले जाते हो तो मैं अपनी निर्जनता में यहीं बैठ कर चुपचाप तकली चलाती रहती हूँ। और गाती जाती हूँ—

"ऐ तकली चल ! प्रिय शिकार खेलने गये हैं ? मेरे जीवन का हेतु भी तेरे (सूत्रों के) समान बढ़े जिससे ये चिर-नग्न प्राण उसमें लिपटे; सुदरता का कुछ मान बढ़े ।·····वह आगन्तुक (आने वाला बच्चा) पशु-सा निर्वसन और नग्न न रहे और अपने अभाव की जड़ता में कभी मग्न न हो । जब कभी तुम न रहोगे तो मेरी यह छूटी-सी दुनिया सूनी न रहेगी । मैं उसके लिए फूलों की मृदुल सेज बनाऊँगी; भूले पर झुलाऊँगी; प्यार करके मुँह चूमूँगी; वह मेरी छाती से लिपटा हुआ इस घाटी मे घूमेगा । वह मृदु मलय पवन-सा अपने कोमल बालों को लहराता हुआ आवेगा । वह अपनी मीठी ज़बान से ऐसे मीठे बोल बोलेगा कि मेरी पीड़ा शात हो जायगी । जब मैं उन निर्विकार आँखों मे अपना चित्र देखूँगी तब मेरी आँखों का सारा पानी अमृत बन जायगा ।"

मनु बोले—"तुम सुख के सौरभ से तरंगित होकर लता-सी फूल उठोगी पर मैं कस्तूरी-मृग बन कर बनों में सुरभि खोजता भटकूँगा । मैं यह जलन नहीं सह सकता । मुझे मेरा ममत्व चाहिए । इस पञ्च-भूत की रचना में मैं ही एक तत्व बन कर रमण करूँ । यह द्वैत, यह द्विविधा तो प्रेम को बाँट लेने की विधि है । क्या मैं भिक्षुक हूँ ? नहीं, यह कभी न होगा । तुम सजल बादल बन कर अपने बिंदुओं को मत बखेरो । इस सुख-नभ में मैं सम्पूर्ण कलाधारी चद्र के समान विचरण करूँगा । तुम कभी भूल से मेरी ओर देखकर मुस्करा दोगी तो मैं उसे घुटने टेककर लेने वाला भिखारी नहीं बनूँगा । श्रद्धे ! यह मत समझो कि तुम मुझ पर इस दीन अनुग्रह का बोझ डालने में

समर्थ होओगी। तुम्हारा यह प्रयास सदा व्यर्थ होगा। तुम अपने सुख से सुखी रहो; मुझे दुःख पाने को स्वतंत्र छोड़ दो। मन की परवशता महा दुःख है', यही मंत्र मैं अब जपूँगा। लो, मैं आज यह सब छोड़कर जाता हूँ। तुम्हें कुसुम-कुंज मुबारक, मेरे लिए काँटे ही धन्य हैं', यह कहकर अपना जलता हुआ हृदय लेकर मनु चले गये। श्रद्धा कहती ही रही कि "ओ निर्मोही! रुक जा, सुन ले।"

९—इड़ा

"किस गंभीर गुफा से अधीर होकर यह झंझा-प्रवाह-सा विक्षुब्ध जीवन रूपी महासमीर निकल पड़ा था जिसके साथ, नभ, अनिल, अनल, क्षिति, नीर के परमाणु हैं। यह भयभीत है, सभी को भय देता है; भय की उपासना में विलीन यह प्राणी ससार को और अधिक दीन कर रहा है और कटुता बाँट रहा है। निर्माण और प्रतिपद विनाश में अपनी क्षमता दिखाता है—बराबर संघर्ष में ही लगा है। सबसे विराग, सब पर ममता है। अस्तित्व के चिरंतन धनु से यह विषम तीर कब छूट पड़ा?"

'मैंने वे शैल-शृंग देखे जो अचल हिमानी से रजित और उन्मुक्त हैं, जो वसुधा का अभिमान चूर्ण करते हुए अपने जड़ गौरव के प्रतीक से खड़े हैं। वे अपनी समाधि में सुखी रहें; अबोध नदियाँ उनके कुछ स्वेद-बिंदुओं को लेकर बह जाती हैं। वह (पहाड़) गतशोक, गतक्रोध, स्थिर है। मैं वैसी मुक्ति और प्रतिष्ठा इस जीवन की नहीं चाहता। मैं तो अपने मन की अबाध गति चाहता हूँ। जलने

और गतिमय सूर्य के समान, जो ससार को कम्पित करता चला जाता है। मैं अपना सुन्दर प्रारभिक जीवन का निवास छोड़कर चला आया, तब से वन, गुहा, कुज और अंचल में अपना विकास खोज रहा हूँ। मैंने किस पर दया की ? मैंने किससे ममता नहीं तोड़ी ? किससे होड़ नहीं की ? मेरी पुकार इस विजन प्रात में बिलख रही है। उसका उत्तर नहीं मिलता। मै लू-सा झुलसाता हुआ दौड़ रहा हूँ। मुझसे कब कोई फूल खिला है?......जिनको मै कलियाँ समझ रहा वे आस-पास बिखरे काँटे हैं। कितना बीहड़ पथ तै कर चुका और कहीं बिल्कुल थक कर पड़ रहा हूँ। उन्मुक्त शिखर मुझ पर हँसते हैं और मै अशात निर्वासित रोता हूँ।......जीवन-निशा के हे अन्धकार ! तू अभिलापा की ज्वाला के धुएँ-सा दुर्निवार है जिसमें अपूर्ण लालसाएँ चिनगारी-सी पुकार उठती है। यौवन-मधुवन की कालिंदी दिशाओं को चूमती बह रही है। उसमें मन-शिशु की क्रीड़ा रूपी नौकाएँ अनन्त दौड़ लगाती हैं।......इस चिर प्रवास के श्यामल पथ में पिक-प्राणों की पुकार छाई है। यह उजड़ा सूना नगर-प्रात, जिसमें सुख-दुःख की परिभाषाएँ विध्वस्त शिल्प-सी विकृत हो गई हैं।...जीवन-समाधि के खडहर पर जो अशान्त दीपक जल उठते हैं फिर स्वय शांत हो जाते हैं।"

मनु थके पड़े यों ही सोच रहे हैं। श्रद्धा का निवास स्थान छोड़ कर जब से वे बाहर निकले यों ही भटकते हुए इस उजड़े नगर-प्रात में आये हैं। पास ही वेग-भरी सरस्वती बह रही है। काली रात निस्तब्ध है। नक्षत्र वसुधा की गति को एकटक देख रहे हैं।

इंद्र का वह जरा जीर्ण उपकूल आज कितना सूना है। इन्द्र की विजय की स्मृतियाँ दुःख को दूना कर रही हैं और चारों ओर सारस्वत प्रदेश थका-सा पड़ा है। मनु को याद आने लगा—जब जीवन के नये विचारो को लेकर सुर-असुर का झगड़ा चला था। तब असुरो मे भी प्राणों की पूजा—आत्मपूजा—का प्रचार हुआ था। एक तरफ आत्म-विश्वास से भरा हुआ सुर-वर्ग पुकार कर कह रहा था—"हम स्वय सतत आराध्य हैं और आत्म-मङ्गल की उपासना मे विभोर शक्ति के केन्द्र हैं, फिर और किसकी शरण खोजे?" उधर असुर प्राणों की सुख-साधना में सुधार करते थे। एक दीन देह को पूजता था, दूसरा अपूर्ण अहंता—अहंकार—मे अपने को प्रवीण समझ रहा था। दोनों ही विश्वास से हीन थे। फिर वे तर्क को शस्त्रों से क्यों न सिद्ध करते और युद्ध क्यों न होता? उनका सघर्ष चला। वे भाव मुझमें ममत्वमय आत्म-मोह और स्वातंत्र्यमयी उच्छृखलता के द्वन्द्व में परिवर्तित होकर मुझे अधिक दीन बना रहा है। मैं सचमुच श्रद्धा-विहीन हूँ।"

इसी समय एक और वाणी (काम की) सुनाई देती है—"मनु! तुम श्रद्धा को भूल गये! तुमने उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को रूई सा हल्का समझ उड़ा दिया। तुमने समझा कि जीवन के धागे में असत् विश्व भूल रहा है और जो समय अपने सुखो के साधन में बीते उन्हें ही सच—वास्तव—मान लिया। तुम्हारे लिए वासना-तृप्ति ही स्वर्ग बन गई। यह उलटी बुद्धि का व्यर्थ ज्ञान है। तुम पुरुषत्व के मोह में भूल गये कि नारी की भी कुछ सत्ता है और अधिकार एवं

अधिकारी की समरसता ही सच्चा सम्बन्ध है।" जब आकाश और पृथ्वी को कम्पित करती यह वाणी गूँजी तो मनु को जैसे शूल चुभ गया।

वह चौंक कर सोचने लगे—"अरे, यह तो वही काम है जिसने मुझे इस भ्रम मे डाल कर जीवन का सुख-विश्राम छीन लिया है। अतीत की घड़ियाँ, जिनका बस नाम ही शेष रह गया है, प्रत्यक्ष होने लगी हैं। उस बीते युग का वरदान आज हृदय को कम्पित करता है। और आज अभिशाप-ताप की ज्वाला से मन और अग जल रहा है।' फिर बोले—"क्या मैं अब तक भ्रमपूर्ण साधना मे ही लगा रहा? क्या तुमने सस्नेह श्रद्धा को पाने के लिए नहीं कहा? उसे पाया और उसने मुझे अपना अमृत से भरा हुआ हृदय भी दे दिया। फिर भी मैं पूर्णकाम क्यों न हुआ?"

काम—"मनु! उसने तो प्रणय से भरा और सरल वह हृदय दान कर दिया जिसमें जीवन का मान भरा था, जिसमे केवल चेतनता ही अपनी शात प्रभा के साथ ज्योतिमान थी पर तुमने तो सदा उसकी सुदर पर जड़ देह ही पाई और उस सौंदर्य के सागर से तुम सिर्फ अपना विषपात्र भर कर लाये। तुम अत्यन्त अबोध हो और स्वय अपनी अपूर्णता को न समझ सके। जो परिणाम तुम्हें पूर्ण कर देता—तुम्हारी अपूर्णता मिटा देता, उससे तुम अपने-आप हट गये। 'कुछ मेरा हो', राग का यह भाव सकुचित पूर्णता है। यह मानस-सागर की क्षुद्र नौका है।··अब तुम स्वतत्र बनने के लिए औरों पर सारा कलुष ढालकर अपना एक अलग तंत्र रखते हो।

द्वन्द्वों का उद्गम तो शाश्वत है। डाली में काँटों के साथ नये फूल खिलते हैं। पर तुम अपनी रुचि से, बिंधे हुए, जिसे मन करता है, बीन लेते हो। तुमने प्राणमयी ज्वाला का प्रणय रूपी प्रकाश ग्रहण नहीं किया; हाँ, उस ज्वाला की ज्वलन रूपी वासना को जीवन के भ्रमरूपी अंधकार में प्रधान स्थान दिया। अब तुम्हारा प्रजातन्त्र शाप से भर रहा है। यह मानव प्रजा की नई सृष्टि द्वयता में लगी निरन्तर वर्णों की सृष्टि करती रहे और अनजान समस्याएं रचकर अपना ही विनाश-साधन करती रहे, अनंत कलह-कोलाहल चले, एकता नष्ट हो; भेद बढ़े, अभिलषित वस्तु मिलनी तो दूर, अनिच्छित दुःख मिले। अपने दिल की जड़ता हृदयों पर परदा डाल दे; एक-दूसरे को हम पहचान न सकें, विश्व गिरता पड़ता चले, सब कुछ पास भरा हो तब भी संतोष सदा दूर रहेगा। यह संकुचित दृष्टि दुःख देगी।"

"कितनी उमंगें अनवरत उठेंगी। अभिलाषाओं के शैलशृंग आँसू के बादलों से चुम्बित हों, जीवन-नद हाहाकार से भरा हो, उसमें पीड़ा की तरंगें उठती हों; लालसा-भरे यौवन के दिन पतझड़ से बीत जायें; सदा नये संदेह पैदा होते रहेंगे और उनसे संतप्त भीत स्व-जनों का विरोध काली रात बन कर फैलेगा, श्यामला प्रकृति-लक्ष्मी दारिद्र्य से संवलित हो बिलखती रहेगी। नरतृष्णा की ज्वाला का पतंग बन कर दुःख के बादल में इन्द्र-धनुष-सा कितने रंग बदलेगा ?

"प्रेम पवित्र न रह जाये; कल्याण का रहस्य स्वार्थों से आवृत होकर भीत हो रहे; आकांक्षा रूपी सागर की सीमा सदा निराशा

का सूना क्षितिज हो। तुम अपने को सैकड़ों टुकड़ों में बाँट कर सब राग-विराग करो। मस्तिष्क हृदय के विरुद्ध हो; दोनों मे सद्भाव न हो। जब मस्तिष्क एक जगह चलने को कहे तो विकल हृदय कहीं दूसरी जगह चला जाय। सारा वर्तमान रोकर बीत जाय और अतीत एक सुन्दर सपना बन जाय। कभी हार हो, कभी जीत। असीम अमोघ शक्ति सकुचित हो जाय। भेद-भावों से भरी भक्ति जीवन को बाधाओं से भरे मार्ग पर ले जाय; कभी अपूर्ण अहंकार में आसक्ति हो जाय, व्यापकता भाग्य की प्रेरणा बन कर अपनी सीमा मे बन्द हो जाय; सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ छंद रच दे; सम्पूर्ण कर्तृत्व नश्वर छाया-सी बन कर आवे; नित्यता पल-पल में विभाजित हो और तुम यह न समझ सको कि बुराई से शुभ इच्छा की शक्ति बड़ी है। सारा जीवन युद्ध बन जाय और खून की उस आग की वर्षा में सभी शुद्ध भाव बह जायँ। अपनी ही शकाओं से व्याकुल तुम, अपने ही विरुद्ध होकर, अपने को ढके रहो और अपना बनावटी रूप दिखलाओ। पृथ्वी के समतल पर दंभ का ऊँचा स्तूप चलता-फिरता दिखाई दे। (यही तुम्हारी सभ्यता और सृष्टि है!) इस संसृति का रहस्य, विश्वासमयी विशुद्ध और व्यापक श्रद्धा, अपनी सारी निधि देकर तुमसे ही तो छली गई। तुम वर्तमान से वंचित हो और तुम्हारा भविष्य रुद्ध है। सारा प्रपञ्च ही अशुद्ध है। तुम जरा-मरण में चिर अशान्त हो। जिसको अब तक सब जीवन में अनन्त परिवर्तन समझे हुए थे, वही अमरत्व अब भूल जायगा और तुम व्याकुल होकर उसके

अंत के लिए कहोगे। हे दुःख से भरे हुए चिर-चिंतन के प्रतीक! और श्रद्धा के वचक! मानव संतति ग्रह की किरणों की डोरी से भाग्य को बाँध कर लकीर पीटेगी। भला प्रजा श्रद्धा का यह रहस्य न जाने कि 'यह लोक कल्याण भूमि है' और इसे मिथ्या मानकर अपनी आशाओं में ही निराश और अपनी बुद्धि से ही भ्रमित होकर सदैव थकावट और शिथिलता से भर जाय।"

इतना सुनाकर अभिशाप की यह प्रतिध्वनि शात हो गई—जैसे आकाश के सागर में महामीन छिप गया हो। मनु अशान्त होकर श्वास ले रहे थे और सोच रहे थे कि 'आज फिर वही (काम) मेरा अदृष्ट बनकर आया जिसने पहले जीवन पर अपनी काली छाया डाली थी। आज उसने भविष्य लिख दिया। यह यातना अत तक चलेगी। अब तो कोई उपाय बाकी नहीं है।' सरस्वती मधुर नाद करती हुई उस श्यामल घाटी में अप्रमाद भाव से निर्लिप्त बह रही थी। पत्थरों के टुकड़े उपेक्षित-से ज्यों के त्यों पड़े थे, जैसे वे निष्ठुर और जड़ विषाद हों। सरस्वती की धारा प्रसन्नता की धारा थी। जिसमें केवल मधुर गान था; कर्म की निरन्तरता का प्रतीक आत्म-नियंत्रित अनन्त ज्ञान चलता था। प्रवाह अपने ही निर्मित पथ का पथिक था और सुसवाद कहता जा रहा था।

सूर्योदय हुआ। (सूर्योदय का सुदर वर्णन)। प्रभात का मधुर पवन सुगध बिखराता हुआ चल रहा है, इसी समय वहाँ नये चित्र-सी एक सुन्दर बाला प्रकट हुई—अत्यंत सुदर्शन सुन्दरी और कोमल कमलों की माला-सी। अलकें तर्क-जाल-सी बिखरी थीं। उसका

भाल शशि-खण्ड के समान स्पष्ट था; दो पद्म-पलाश चषक-से दृग अनुराग-विराग ढाल कर देते थे। गुंजरित मधुपयुक्त मुकुल के सदृश वह मुख था, जिसमें गान भरा था। संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान छाती पर धरे थे। एक हाथ में वसुधा के जीवन का सार लिये कर्म-कलश था, दूसरा विचारों के नभ को मधुर अवलम्ब दिये हुए था। चरणों में ताल से भरी हुई गति थी।......मनु सहसा बोले—"अरे, आलोक से भरी चेतना-सी यह हेमवती छाया कहाँ से आई?"

वह बाला बोली—"मैं इड़ा हूँ। कहो, तुम कौन हो, जो यहाँ डोल रहे हो?"

मनु—"बाले! मेरा नाम मनु है। मैं विश्व का पथिक हूँ; क्लेश सह रहा हूँ।"

इड़ा—"स्वागत! पर तुम देख रहे हो, यह सारस्वत प्रदेश उजड़ा हुआ है। मेरा यह देश भौतिक हलचल में चंचल हो उठा था। मैं इसमें इसी आशा से पड़ी हुई हूँ कि कभी मेरा दिन आवेगा।"

मनु—"देवि! मैं तो आया हूँ। बताओ, जीवन का मोल क्या है?···जिसने तारा, ग्रह, विद्युत्, नक्षत्र रचा है, वह महाकाल सागर की भीषण तरगों-सा खेल रहा है। तब क्या पृथ्वी के छोटे-छोटे प्राणियों को भीत करने के लिए ही उस निष्ठुर की यह सब रचना है? यदि विनाश की ही जीत है तो मूर्ख उसे सृष्टि क्यों समझे हुए हैं जो नाशमयी है!··शनि का वह सुदूर नील लोक जिसकी छाया के समान यह ऊँचा आकाश फैला हुआ है, सुनते हैं उसके परे भी

कोई प्रकाश-पुंज है। क्या वह अपनी एक किरन देकर, नियति-जाल से मुक्ति दिलाकर, मेरी स्वतंत्रता मे सहायक हो सकता है ?"

इड़ा—"कोई भी हो, वह क्या बोले। नर को पागल होकर उस पर निर्भर न करना चाहिए। अपनी दुर्बलता को सँभाल कर गतव्य मार्ग पर चलना चाहिए। जिसे चलने की लगन हो उसे कोई कैसे रोक सकता है ?...हाँ, तुम्हीं अपने सहाय हो। जो बुद्धि कहे, उसे न मानकर नर किसकी शरण में जा सकता है ? जितने भी विचार-सस्कार हैं, उनका दूसरा उपाय नहीं है। यह परम रमणीय और अखिल ऐश्वर्यों से भरी प्रकृति शोधक-विहीन है। तुम उसका रहस्य खोलने मे कमर कसकर तैयार हो जाओ और सबका नियमन-शासन करते हुए अपनी क्षमता बढ़ाते चलो। कहाँ विषमता और समता हो, तुम्हीं इसके निर्णायक हो। विज्ञान के साधन से तुम जड़ता को चैतन्य करो।" यह सब सुनकर वह सूना गगन हँस पड़ा, जिसके भीतर कितने ही जीवन मरण शोक बसकर उजड़ गये और कितने हृदयों के मधुर-मिलन विरह से रो रहे हैं। मनु ने अपना विषम भार अपने सिर ले लिया, तब प्राची में उषा हँस पड़ी। नर अपना राज-काज देखे, यह देखने को वह चंचल बाला चल पड़ी।

मनु बोले—"जीवन-निशा का अन्धकार भग रहा है। इड़े ! तुम उषा-सी कितनी उदार बन कर यहाँ आई हो। मेरे सोये मनोभावों के विहंग कलरव से करते जग पड़े हैं। प्रसन्नता हँस रही है। अब मैने दूसरों का अवलम्ब छोड़कर बुद्धिवाद को अपनाया और स्वय बुद्धि को आज यहाँ पा रहा हूँ। बस, अब मेरे विकल्प संकल्प

बन जायँ और जीवन कर्मों की पुकार हो जिससे सुख-साधन का द्वार खुल जाय।"

१०—स्वप्न

सध्या का समय। (सध्या-सौंदर्य का वर्णन) श्रद्धा पड़ी है। सूनी साँसे लेती हुई कहती है—"हे मदाकिनी! जीवन में सुख या दुःख कौन ज़्यादा है? नभ में नक्षत्र अधिक हैं या सागर में बुलेबुले?·······परागा की आज वैसी चहल-पहल नहीं है। कोयल बोलती है; चुपचाप सुनती हूँ। यह पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की सध्या! कामायनी! तू हृदय कड़ा करके सब सहती चल। विरल डालियों के निकुंज दुःख के निश्वास ले रहे हैं। स्मृति का समीर चलता है। फिर मिलन कथा कौन कहे? आज जैसे अभिमानी विश्व बिना अपराध ही रूठ रहा है। ये बह रहे आँसू किन चरणों को धोयेंगे? ······जीवन की बीती हुई कष्ट-पूर्ण घड़ियाँ भी मीठी हैं। अपनी चिर-सुंदरता मे जो एक सत्य बना था, वह कहीं छिप गया है, तब सुख-दुःख की उलझी लड़ियाँ कैसे सुलझे? अच्छा हो, वे बीती बातें भूल जायँ जिनमे अब कुछ सार नहीं। न वह जलती छाती रही, न वैसा शीतल प्यार रहा। आशाएँ, मीठी अभिलाषाएँ, सब अतीत में विलीन हो चलीं। प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं है। वे आलिंगन एक बंधन थे; मुस्कराहट बिजली था; आज वे कहाँ हैं? और मधुर विश्वास? वह तो पागल मन का मोह था। वंचित जीवन समर्पण बन गया, यह अकिंचन

का अभिमान है। केवल इतना ही ख़्याल रह गया है कि कभी मैंने कुछ दे दिया था। यह प्राणों का विनिमय कैसा ख़तरनाक व्यापार है। तुझे जितना देना हो दे दे पर लेना! इसका ख़्याल कोई न करे। परिवर्तन की प्रतीक्षा कभी पूरी नहीं हो सकती; सध्या सूर्य का दानकर इधर-उधर बिखरे तारे पाती है। वे कुछ दिन, जो हँसते-से आये थे और अपने साथ फूलों की भरमार और स्वरों का गुंजन लाये थे, जब मुस्कराहट फैल गई तब फिर आने को कहकर, छल से, सदा के लिए चले गये।......वे दिन जब शिरीष की मधुर गंध से पूर्ण, मानभरी मधुऋतु की रातें जागरण की चोट को न सह लाल मुख करके चली जाती थीं और मधुर आलापों की कथा कहता हुआ दिन नभ में छा जाता था......। वन-बालाओं के निकुंज वेणु के मधुर स्वर से भरे थे। आनेवाले अपने घरों से पुकार सुनकर लौट चुके थे पर वह परदेसी नहीं आया, प्रतीक्षा में समय बीत गया।......आकाश के दीप जल उठे; अभिलाषा के शलभ—पतंग—उस ओर उड़ चले। आँखों में जल भरा रह गया, वह जलती ज्वाला न बुझी।'

कामायनी—श्रद्धा—इन विचारों में डूबी हुई थी कि दूर से एक किलक आई—"माँ!" और सूनी कुटिया गूँज उठी। माँ उत्कण्ठा से भरकर उठ दौड़ी। अलकें लटरी थीं; धूल से मिली बाहें आकर माँ से लिपट गईं। माँ ने पूछा—"नटखट! तू मेरे भाग्य-सा कहाँ फिर रहा था? ऐ पिता के प्रतिनिधि! तूने भी खूब सुख-दुःख दिया। चंचल, तू जंगली जानवर बना चौकड़ी भरता

फिरता है। मैं इस डर से कि तू रूठ जावेगा, मना नहीं करती।"
बच्चा बोला:—"माँ, तूने कैसी अच्छी बात कही। मैं रूठूँ, तू मनाये।
ले, अब मैं जाकर सोता हूँ, आज न बोलूँगा। पके फलों से पेट
भर गया है। नींद आज खुलने वाली नहीं है।" श्रद्धा ने चुंबन
लिया। वह कुछ प्रसन्न और कुछ विषाद से भरी हुई थी।
उसके मन में पुरानी स्मृतियाँ उठ रही थीं। उस छोटे जीवन
की मधुर घड़ियाँ मानो मुक्त गगन के हृदय में छाले बन गई
थीं। प्रणय-किरण का कोमल बंधन मुक्ति बना दूर बढता जाता
है फिर भी वह प्रति पल हृदय के समीप होता जा रहा है। जब
तन्द्रा मधुर चाँदनी-सी मूर्च्छित मानस पर फैलती है तब उसमें
अभिन्न प्रेमास्पद अपना चित्र बना देता है। कामायनी अपना सब
सुख स्वप्न होता देखती है।.....

उधर इडा आग की ज्वाला के समान उल्लास से भरी हुई जल
रही है और मनु का पथ आलोकित कर रही है, विपत्ति-नदी में नाव
बनी हुई है।.....सुदर प्रकाश-किरण-सी हृदय-भेदिनी दृष्टि उसकी
है; जिधर देखती है उधर ही अधकार के वद किये मार्ग खुल जाते
हैं। मनु की सतत सफलता की विजयिनी तारा के समान वह उदय
थी। आश्रय की भूखी जनता ने भी खूब श्रम किया।...मनु का
सुदर नगर बसा है; सभी सहयोगी बने हैं; दृढ़ प्राचीरों में मंदिर के
अनेक द्वार दिखाई पड़ते हैं। वर्षा, धूप, ठड से आश्रय के साधन
हैं। खेतों में कृषक प्रसन्न होकर हल चलाते हैं। उधर धातुओ को
गलाकर नये-नये अस्त्र और आभूषण बनते हैं। साहसी लोग शिकार

के नये-नये उपहार लाते हैं। शृंगार के नवीन साधन प्रस्तुत हैं। घन के आघातों से जहाँ प्रचण्ड शब्द होता है तहाँ रमणी के मधुर कण्ठ से निकलनेवाली हृदय-मूर्च्छना भी बह रही है। सभी अपने वर्ग बनाकर श्रम का उपाय करते हैं और उनके सम्मिलित उद्योग से नगर की श्री निखर गई है। देश-काल का भेद दूर करते हुए सब सुख-साधन एकत्र कर रहे हैं। ज्ञान, व्यवसाय परिश्रम की छाया में बढ़ गये। वसुधा के गर्भ में जो कुछ है वह मानव-प्रयत्न से ऊपर आने लगा। सृष्टि का बीज आज अंकुरित, प्रफुल्लित होकर सफल हो रहा है। आज मनु से रक्षित, उत्साह से भरा हुआ स्वचेतन प्राणी स्वावलम्ब की दृढ़ भूमि पर अपनी कुशल कल्पनाओं के सहारे खड़ा है। आज उसे प्रलय का भय नहीं।...श्रद्धा उस आश्चर्य भरी दुनिया में मलय-बालिका-सी चलती हुई सिंह-द्वार के भीतर पहुँच गई है;—जो प्रहरी खड़े थे उनको छलती हुई। वहाँ ऊँचे-ऊँचे महल बने हैं; गृहों में सुगंधित द्रव्य जल रहे हैं; प्रकाश हो रहा है; स्वर्ण कलश-शोभित भवनों से लगे हुए उद्यान बने हैं। बीच बीच में टेढ़े पर प्रशस्त पथ हैं; कहीं लताओं के कुंज हैं जिनमें गलबाहीं दे देकर दम्पति विहार करते हैं; रसीले भौंरे गूँज रहे हैं। देवदारु की लम्बी भुजाओं में वायु की लहरें उलझती हैं; चिड़ियों के बच्चे कलरव कर रहे हैं। नाना प्रकार के फूल खिले हैं। नव-मण्डप में सिंहासन है, जहाँ कितनी ही चमड़े से मढ़ी कुर्सियाँ रखी हैं—अगर जल रहा है। यह सब देखकर श्रद्धा चकित है और सोचती है—"मैं यहाँ कहाँ आगई?" और सामने देखती है.

तो अपने दृढ़ करों में चषक लिये मनु हैं; वही मुख है। जिसमें विश्वास नहीं है, वह इड़ा सामने बैठी वह आसव ढाल रही है, जिसे पी-पीकर भी तृषित कण्ठ की प्यास नहीं बुझती। मनु इड़ा से पूछते हैं—"क्या अभी यहाँ कुछ और करने को शेष है?" इड़ा बोली—"अभी इतने में विशेष कर्म कहाँ पूरा हुआ? क्या सब साधन स्ववश हो चुके?" मनु—"नहीं, अभी मैं रिक्त हूँ। उजड़ा देश तो बसाया पर मानस-देश सूना है। सुदर सुख, आँखों की आशा, पर ये चीज़े किसकी हुई हैं?".. ऐ मेरी चेतनते! बोल तू किसकी है, ये किसके हैं?" इड़ा कहती है—"तुम्हारी प्रजा हैं। मै तुम्हें सबका प्रजापति समझती हूँ। फिर यह सदेह भरा नया प्रश्न क्यों सुन रही हूँ?" मनु कहते हैं—"प्रजा नहीं, तुम मेरी रानी हो। मुझे अब भ्रम में मत डालो। हे मधुर हंसिनी! कहो कि 'अब मैं प्रणय के मोती चुनती हूँ।' मेरे भाग्य के धुँधले गगन में तुम प्राची के समान हो, जो खुलकर अचानक प्रभा से पूर्ण हो जाती है। मै प्रकाश का अतृप्त भिखारी हूँ। ऐ प्रकाश-बालिके! बता, हमारी प्यास इन मधुर अधरों के रस में कब डूबेगी? इतने सुख-साधन और रुपहली रातों की शीतल छाया! दिशाएँ प्रतिध्वनित हैं, मन उन्मद है, काया शिथिल है, तब (ऐसी अवस्था में) रानी, तुम प्रजा मत बनो—"यह कहकर नर में जो पशु है, वह हुँकार कर उठा। उधर अँधेरा हो गया।" आलिंगन होता है, फिर भय का एक क्रंदन सुनाई पड़ता है,—जैसे वसुधा काँप उठी। अतरिक्ष में रुद्र-हुंकार हुआ। भयानक हलचल मच गई। आत्मजा प्रजा क्रुद्ध हो गई। उधर आकाश में

सब देव-शक्तियाँ क्रोध से भर उठीं। अचानक रुद्र का नयन खुल गया; नगरी व्याकुल-सी काँप उठी। स्वयं प्रजापति अतिचारी ? इससे क्रुद्ध होकर अजगव पर प्रतिशोध से भरी शिंजिनी चढ़ी। रुद्र का ताण्डव आरंभ हुआ। भूतनाथ ने अपना विकम्पित पद उधर उठाया, इधर सारी भूत-सृष्टि सपना होने जा रही थी। सब लोग आश्रय पाने को व्याकुल हो रहे थे। स्वय मनु अपने कलुष में सदिग्ध थे।···सब काँप रहे थे, सबको अपनी रक्षा की पड़ी थी। आज वह शासन कहाँ था जिसने सबकी रक्षा का भार लिया था ? इड़ा क्रोध और लज्जा से बाहर निकल चली थी पर उसने देखा कि व्याकुल जनता ने राज-द्वार घेर लिया है और प्रहरियों के दल भी उससे मिल गये हैं। अब तक जो प्रजा अनुकूल थी, वह आज कुछ और हो गई। इस कोलाहल में सोच-विचार से भरे मनु बैठे थे। पंख लगाकर उड़ने की वह विज्ञान-मयी अभिलाषा, कभी नीचे न मुड़ने की वे जीवन की असीम आशाएँ, अधिकारों की वह सृष्टि, और उनकी मोहमयी माया, वर्गों की खाईं बन कर फैल गई, जो कभी जुड़नेवाली नहीं। असफल मनु क्षुब्ध हो उठे—'यह कैसी आकस्मिक बाधा ?' वह समझ न पाये कि यह क्या हुआ और प्रजा यों आकर क्यों जुट गई है ? उन्होंने आज्ञा दी —"बस, द्वार बंद कर दो; इनको यहाँ न आने देना; प्रकृति आज उत्पात कर रही है। मुझे बस सोने दो।" ऊपर से तो क्रोध से, पर अन्दर से डरे हुए मनु, यों कह कर सोने के कमरे में जीवन का लेना-देना सोचते हुए चले।

श्रद्धा अपनी गुफा में सोती हुई यह सब सपना देख रही थी।

एकाएक उसकी आँख खुल गई। उसने सोचा—"मैंने यह क्या देखा ? क्या वह इतना छली हो गया ?" स्वजनों के स्नेह में भय की आशका कितनी जल्द उठ आती है। 'अब क्या होगा', यह सोचते सोचते रात बीत चली।

११—संघर्ष

श्रद्धा का तो स्वप्न था किंतु वह सत्य बन गया था उधर इड़ा सकुचित थी और प्रजा में घोर क्षोभ था। लोग भौतिक विप्लव से घबड़ाकर राजा की शरण में रक्षा पाने के लिए आये किंतु वहाँ बुरा व्यवहार और अपमान मिला। मनस्ताप से सब के भीतर क्रोध भरा हुआ था। लोग इड़ा का क्षुब्ध और पीला मुख देखते थे। उधर प्रकृति की तांडव लीला भी नहीं रुकी थी। आँगन में लोग जुटते जा रहे थे; भीड़ बढ़ती आ रही थी। प्रहरी लोग द्वार बन्द किये ध्यान लगाये हुए थे। बड़ी काली रात थी। रह-रहकर बिजली चमकती थी। मनु विस्तर पर पड़े चिन्तित थे; सोच रहे थे। उन्हें क्रोध और शका के कुत्ते नोच रहे थे—"मैं यह प्रजा बनाकर कितना संतुष्ट हुआ था। कितने यत्न से इनको ढरें पर चलाया; ये अलग अलग थे पर इनकी छाया एक हुई। बुद्धि बल से प्रयत्न कर, नियम बनाकर इनको एकत्र किया, इनका संचालन किया। किन्तु क्या मैं स्वयं भी उन सब नियमों को मानकर चलूँ ? जो मेरी सृष्टि है उसीसे मै भीत रहूँ ? क्या मुझे अधिकार नहीं कि कभी मै अविनीत भी होऊँ ? श्रद्धा को समर्पण

का अधिकार तो मैं दे ही न सका। वहाँ नहीं रुका। प्रति पल बढ़ता ही गया। इड़ा मुझे नियमों के अधीन बनाना चाहती थी। उसने मेरा एक भी निर्बाधित अधिकार नहीं माना। विश्व एक बंधनहीन परिवर्तन ही तो है। इसकी गति में रवि, शशि, तारे जो हैं, सब रूप बदलते रहते हैं। वसुधा समुद्र बन जाती है; समुद्र मरुभूमि बन जाता है। सब के भीतर तरल अग्नि दौड़ रही है। बर्फ के पहाड़ गल कर सरिता के रूप में बहते हैं। यह चिनगारी का नृत्य है। एक पल आया और गया; यहाँ टिकने का सुभीता किसे मिला है? शून्य के महाविवर में कोटि-कोटि नक्षत्र, अधर में लटकते हुए, रास कर रहे हैं।······कभी-कभी हम वही पुनरावर्तन देखते हैं; जिससे जीवन चल रहा है, उसे नियम मानते हैं। किंतु रुदन हास बन पलक में छलक रहा है। सैकड़ों प्राण मुक्ति खोजते फिरते हैं। जीवन में अभिशाप और अभिशाप में ताप भरा है। इसी विनाश में सृष्टि का कुंज हरा हो रहा है। 'विश्व एक नियम से बँधा है', यह पुकार लोगों के मनमें फैल गई है। इन्होंने नियमों को परखा और उन्हें सुख के साधन के रूप मे जाना पर मैंने कभी यह न माना कि जो नियामक है वह भी वशी रहे। मैं बंधन-हीन हूँ और मेरा दृढ़ प्रण है कि मै सदा मृत्यु की सीमा का उल्लघन करता हुआ चलूँगा। महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण अपना हो वही चेतनता की तुष्टि है; फिर सब सपना है।" तर्क वितर्क करता हुआ मन ज़रा रुका। करवट लेते ही मनु ने देखा कि इड़ा फिर अविचल खड़ी है और कह रही है—"यदि नियामक नियमन माने

तो वह निश्चय जान ले कि फिर सब कुछ नष्ट हुआ।" मनु बोले—"ऐं! तुम फिर यहाँ कैसे चली आई? क्या तुम्हारे मन में उपद्रव की कुछ और बात समाई है। आज जो इतना सब हो गया है उससे क्या तुम्हें संतोष न हुआ? अब क्या बच रहा है।" इड़ा बोली—"मनु, सब लोग तुम्हारा शासन-स्वत्व सदा निबाहें और वे अपनी चेतना और संतोष के त्तण की इच्छा न करें, ऐ प्रजापति! यह न कभी हुआ है, न होगा। आज तक निर्बाध अधिकार किसने भोगा है? मनुष्य चेतना का विकसित आकार है; चेतना के केन्द्रों मे जो संघर्ष चला करता है और द्वयता का जो भान सदा मनमें भरता है, एक-एक विस्मृत चीज़ को पहचानता और अनेक को समीप लाता है। स्पर्धा मे जो अच्छे ठहरते हैं, रह जाते हैं और वे शुभ मार्ग बता कर संसार का कल्याण करते हैं। व्यक्ति की चेतना इसीलिए परतंत्र है, वह रागपूर्ण पर द्वेष के कीचड़ में सदा सनी हुई नियत मार्ग में पद-पद पर ठोकर खाती है। फिर भी अपने लक्ष्य की ओर चलती जाती है। यही जीवन का उपयोग है, यही बुद्धि की साधना है; जिसमे अपना श्रेय हो, वही सुख की आराधना है। यदि लोग उस छाया में आश्रय लेकर सुखी हों तो राष्ट्र की इस काया मे प्राण के समान तुम रमो। देश की कल्पना भी काल की परिधि मे लय हो जाती है और काल महाचेतना में अपना त्तय खोजता है। (यानी महाचेतना से देश-काल के परे हो जाते हैं)। ताल पर चलो जिसमे लय न छूटे और इसमें मूर्खता-वश अपना विवादी स्वर न छेड़ो।"

मनु—"अच्छा ! तुम्हें फिर अब यह सब समझाने की ज़रूरत नहीं है। तुम कितनी प्रेरणामयी हो, मैं यह अब जान चुका हूँ। किंतु तुम आज ही फिर कैसे लौट आई ? यह साहस की बात तुम्हारे मन में कैसे आ गई ? क्या प्रजापति होने का यही अधिकार है कि मेरी अभिलाषा सदा अपूर्ण रहे। मैं सदा सब को बाँटता ही रहूँ ? कुछ पाने का प्रयास पाप है ? क्या तुम कह सकती हो कि तुमने भी कुछ प्रतिदान दिया या केवल मुझे ज्ञान देकर ही जीवित रह सकती हो ? जो मैं चाहता हूँ, जब वही नही मिला तब जो बात तुमने अभी कही, वह व्यर्थ है। उसे लौटा लो।"

× × ×

मनु—"इड़े ! मुझे वह चीज़ चाहिए, जो मै चाहूँ। तुम पर मेरा अधिकार हो, नहीं तो मै व्यर्थ ही प्रजापति हूँ। तुम्हें देखकर अब सब बंधन टूट रहे हैं। मैं अब ज़रा भी शासन या अधिकार नहीं चाहता।.....तुम कहती हो, कि विश्व एक सम है, मै उसमें लीन हो चलूँ, किंतु इसमे क्या सुख धरा है ? क्रन्दन का अपना एक अलग आकाश बनाकर उस रोदन में तुमको अट्टहास होकर पा लूँ। फिर से सागर उछल कर अपनी मर्यादा के बाहर बहे; फिर नाव डगमग हो, लहर उसके ऊपर से भागे। रवि, शशि, तारा चौंक उठे किंतु तुम मेरे ही पास रहो। तुम मेरी हो। मै कोई खिलवाड़ नहीं हूँ कि तुम उससे खेलो।"

इड़ा—"आह ! क्या मेरी अच्छी बाते तुम न समझोगे ? तुम उत्तेजित होकर अपना प्राप्य नही पाते। उधर प्रजा क्षुब्ध होकर

शरण माँगती खड़ी है। घड़ी-घड़ी प्रकृति आतंक से काँप रही है। सावधान! मैं शुभाकांक्षिणी और क्या कहूँ? जो कहना था, कह चुकी—अब यहाँ रहने की ज़रूरत नहीं।"

मनु—"मायाविनी! बस तुमने ऐसे ही छुट्टी पाली? जैसे लड़के खेलो मे कुट्टी कर लेते हैं? तुम मूर्तिमान अभिशाप बनकर सामने आई और तुमने ही मुझे संघर्ष की भूमिका दिखाई। रुधिर भरी वेदियाँ और उनमें भयकरी ज्वाला, ऐसे विनयन का उपचार तुम्हीं से मैंने सीखा। वर्ण बने; उनका अपना श्रम बँट गया। जिनका सपना भी न देखा था वे शस्त्र और यंत्र बन चले। आज नर शक्ति का खेल खेलने में आतुर है; अब तो प्रकृति के साथ निरन्तर संघर्ष है। अब क्या डर है? अब नियमों की बाधा पास मत आने दो और इस हताश जीवन में क्षण-भर सुख मिल जाने दो। राष्ट्रस्वामिनी!, यह अपना सब वैभव लो। मैं तो केवल तुम्हें सब तरह से अपना कहना चाहता हूँ। नहीं तो फिर यह सारस्वत देश ध्वस ही हुआ समझो।"

इड़ा—"मनु! मैंने जो किया, उसे ऐसा कहकर मत भूलो। तुमको जो मिला, उसी में यों न फूलो। मैंने ही तुम्हें प्रकृति के साथ संघर्ष करना सिखाया। मैंने इस बिखरी विभूति का तुमको स्वामी बनाया किन्तु आज मै तुम्हारी हाँ में हाँ न मिलाऊँ तो बड़ा अपराध होगा, क्यों? मनु, देखो यह भ्रमपूर्ण रात बीत रही है, प्राची में उषा अंधकार पर विजयी होती जाती है। यदि तुम विश्वास करो, तो अभी समय है; धैर्य धरो तो सब बात बनती है।"

१७

पर मनु पर फिर प्रमाद का झोंका आया। इड़ा द्वार की ओर बढ़ी पर मनु ने उसे पकड़कर भुजाओं में भर लिया। वह निस्सहाय हो, दीन दृष्टि से देखती रही।......मनु बोले—"यह सारस्वत देश तुम्हारा है, तुम इसकी रानी हो और मुझको अपना अस्त्र बनाकर मनमानी करती हो। पर अब यह छल न चलेगा; तुम मुझे अपने जाल से मुक्त समझो। शासन की यह प्रगति अभी रुकेगी क्योंकि मुझसे यह दासता न हो सकेगी। मैं शासक हूँ; मैं चिर स्वतन्त्र हूँ। तुम पर भी मेरा असीम अधिकार होना चाहिए अन्यथा सम्पूर्ण व्यवस्था पल-भर में छिन्न-भिन्न हो जायगी।......आज तुम मेरी बाँहों में बंदी हो।..........." मनु इतना ही कह पाये थे कि सिंहद्वार अर्राकर गिर पड़ा; जनता अंदर आ गई और उसने 'हमारी रानी' का नारा लगाया। मनु अपनी कमज़ोरी मे हाँफ रहे थे और पतन से विकम्पित पद अब भी काँप रहे थे। पर यह दृश्य देखते ही उन्होंने वज्रखचित राजदण्ड लेकर पुकारा —"तो सुनो, मैं जो कहता हूँ। मैंने ही तुम्हें सुख के तृप्तिकर साधन बताये; मैंने ही श्रम-विभाग किया, फिर वर्ग बनाया।.....आज हम पशु या काननचारी नहीं हैं। क्या तुम हमारा यह उपकार भूल गये?" लोग भीषण मानसिक दुःख से क्रुद्ध होकर बोले—"देखो, पाप अपने ही मुख से पुकार उठा। तुमने योग-क्षेम के लिए आवश्यक से अधिक संचयवाला लोभ सिखाकर हमें विचारों के सकट में डाल दिया। हमे यही सुख मिला कि हम सवेदनशील हो चले। अपने बनावटी दुःख बनाकर कष्ट समझने लगे। सब की प्रकृत शक्ति तुमने

यन्त्रों से छीन ली। शोषण करके जीवन को झीना बना दिया। और इड़ा पर क्या अत्याचार किया ? क्या हम सब के बल पर तू इसीलिए यहाँ जिया है ? आज हमारी रानी इड़ा यहाँ बंदिनी है। ऐ पातकी ! अब तेरा निस्तार कहाँ है ?"

मनु क्रुद्ध होकर बोले—"तो फिर जीवन के रण मे, प्रकृति और उसके पुतलों के भीषण दल मे मैं यहाँ हूँ। आज मुझ साहसिक का पौरुष देखो और राजदंड का वज्र के रूप में अनुभव होने दो।"

इसके बाद मनु और प्रजा का युद्ध। सुदर युद्ध-वर्णन। इस युद्ध में मनु के विरुद्ध असुर-पुरोहित किलात और आकुलि दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भी प्रजा को भड़काया है। मनु उन्हें मारते हैं। इड़ा कहती है—"इतना भीषण नर-सहार हो रहा है। ओ अभिमानी ! ठहर जा। तू भी जी और दूसरों को भी जीने दे।" पर मनु कुछ नहीं सुनते। वेदी की ज्वाला धधकती है और उसमें सामूहिक बलि दी जा रही है। रक्तोन्मद मनु का हाथ नहीं रुकता है पर प्रजापक्ष का साहस भी कम नहीं होता। अंत में मनु घायल होकर बेहोश हो जाते और ज़मीन पर गिर पड़ते हैं।

१२—निर्वेद

वह सारस्वत नगर मौन, क्षुब्ध और मलिन बना पड़ा था जिसके ऊपर विगत कर्म के विष-भरे विषाद का आवरण तना हुआ था।···जीवन में जागरण सत्य है या सुषुप्ति ही उसकी सीमा है ? रह-रहकर यह पुकार-सी आती है—"यह भव-रजनी भयानक है।"

"'सरस्वती चली जारही थी; घायल अभी तक कराह रहे थे। नगरी में कभी-कभी चिड़ियों की आवाज़ होती थी और कहीं-कहीं धुँधला प्रकाश निकल रहा था। रुक-रुककर हवा चलती थी। भय से भरे मौन निरीक्षक-सा अंधकार जगाता हुआ चुपचाप खड़ा था। मंडप के सोपान सूने थे; उस पर केवल इड़ा, अग्निशिखा-सी धधकती हुई, बैठी थी। राज-चिन्हो से शून्य महल समाधि-सा खड़ा था; वहीं मनु का घायल शरीर भी पड़ा हुआ था। इड़ा ग्लानि से भरी, बीती बातें सोच रही थी। घृणा और ममता में कितना समय बीत गया। नारी का हृदय, उसमें सुधा और आग, क्षमा और प्रतिशोध साथ-साथ थे। वह सोचती थी—"उसने मुझसे स्नेह किया था; हाँ, वह अनन्य नहीं रहा। जहाँ कहीं पड़ी रह सके, वह अनन्यता सहजलब्ध थी पर जो स्नेह बाधाओं को तथा सब सीमा तोड़कर दौड़ चले, वही अपराध हो उठा। हाँ, अपराध तो था पर वह कितना भयानक बन गया। जीवन के एक कोने से उठकर इतना फैल गया। और वे सब बहुत-से उपकार ! क्या वे शून्य थे ! क्या उसमें केवल छल था ? उस दिन आनेवाला वह परदेशी कितना दुखी था जिसके चारों ओर सूनापन छाया था। वही शासन का सूत्रधार और नियमन का आधार बना और अपने ही बनाये नव-विधान का स्वयं साकार दण्ड बन गया। सागर की लहरों से उठकर वह सहज ही शैल-शृंग पर चढ़ गया। ···वही आज मुरदे-सा पड़ा है। क्या वह सब अतीत सपना था ? जो सब का अपना था, उसी के लिए सब पराये हो गये।······ जो मेरा उपकारी था, वही मेरा अपराधी हो गया। जो सबके लिए

गुणकारी था, उसी से प्रकट दोष हुआ। सर्ग-अंकुर के ये भले-बुरे दो पत्ते हैं। एक दूसरे की सीमा है; फिर दोनों को प्यार क्यो न करे ?...चाहे अपना सुख हो, या दूसरों का, जब बहुत बढ़ जाता है तब वही दुःख हो जाता है। किस सीमा पर रुक जाना चाहिए, जैसे यह मालूम नहीं है। प्राणी अपने भविष्य की चिंता में वर्तमान का सुख छोड़ देता है और अपने ही पथ में रोड़े बिखराता दौड़ कर चलता है।.....इस आदमी को मैं दण्ड देने बैठी हूँ या इसकी रखवाली कर रही हूँ ? यह कैसी विकट पहेली है ! मै कितनी उलझनवाली बन गई हूँ ?......यह एक मीठी कल्पना है कि इससे कुछ सुदर निकलेगा, वास्तविकता से अच्छा :—उसी को सत्य वर देगा।" यह सब सोच रही थी कि उसे मालूम हुआ कि इस निस्तब्ध रात में कोई यह कहती चली आ रही है—"अरे, कोई दया करके बता दो कि मेरा प्रवासी कहाँ है ! उसी पागल से मिलने को मैं भटक रही हूँ। वह अपनेपन से रूठ गया था, मै उसे अपना न सकी। वह तो मेरा अपना ही था; भला मैं मनाती किसको ? यही भूल काँटे-सी मेरे हृदय में साल रही है। कोई आकर बतावे कि मैं उसे कैसे पाऊँगी ?" इस आवाज़ को सुनकर इड़ा उठी; सामने राज-पथ पर धुँधली-सी छाया चलती दिखाई दी। उसकी वाणी में वेदना थी, जैसे पुकार जल रही हो। उसका शरीर शिथिल, वस्त्र अस्त-व्यस्त, बाल खुले थे। वह उस मुरझाई कली के समान थी; जिसकी पखड़ियाँ टूट गई हों और मकरंद लुट गया हो। उसके साथ छोटा-सा लड़का उँगली पकड़े, मौन धैर्य-सा अपनी माता को जकड़े,

चला आ रहा था। माँ-बेटे थके हुए थे और भूले मनु को, जो घायल पड़े थे, खोज रहे थे।

आज इड़ा कुछ द्रवित हो रही थी। उसने इन दुखियों को देखा; उनके पास पहुँची और फिर पूछा—"तुमको किसने बिसरा दिया है ?"...इस रात में तुम लोग भटकते कहाँ जाओगे ? बैठो और अपना दुखड़ा कहो। जीवन की लम्बी यात्रा में खोये भी मिल जाते हैं। जीवन है तो कभी मिलन भी होगा और दुःख की रातें कट जायँगी।" श्रद्धा रुक गई; बच्चा थक गया था; उसका ख्याल था, इसलिए मिलते हुए विश्राम को श्रद्धा ने स्वीकार कर लिया और इड़ा के साथ वहाँ पहुँची जहाँ ज्वाला जल रही थी।...सहसा वेदी की ज्वाला मंडप को आलोकित करती जल उठी। उसे देखकर कामायनी को स्वप्न के सब दृश्य याद आ गये और उसने चौंक कर पास देखा तो घायल मनु पड़े थे। बस चीख कर बोली—"आह ! प्राणप्रिय ! यह क्या ?" आँख से आँसू बहने लगे। इड़ा चकित थी। श्रद्धा मनु के पास आ बैठी और सहलाने लगी। उसका स्पर्श लेप-सा मधुर था। फिर भला व्यथा क्यों न दूर होती ? कुछ समय बाद नीरव और मूर्च्छित मनु में हलके स्पन्दन हुए और आँखें खुलीं, चारों कोनों में आँसू की चार बूँदें भर गईं।

उधर कुमार ऊँचे मंदिर, मंडप, वेदी को देखता और सोचता था, यह सब क्या है ? माँ ने कहा—"अरे, तू यहाँ आ। देख, पिताजी यहाँ पड़े हैं।" "पिता ! लो आया', कहते हुए उस कुमार के रोयें खड़े हो गये। वह बोला—"माँ ! जल दे, वह प्यासे होंगे।

तू बैठी क्या कर रही है ?" सारा मंडप बच्चे की बातों से मुखरित हो गया।···उस घर में आत्मीयता फैली। छोटा-सा परिवार बन गया जिसमें मीठा स्वर छाया हुआ था। उधर प्राची में प्रभात हुआ, इधर मनु ने आँखे खोल दीं। फिर श्रद्धा का सहारा मिला। कृतज्ञता से हृदय भरे मनु गद्गद् होकर उठ बैठे और प्रेम से बोले—"श्रद्धे! अच्छा हुआ, तू आ गई पर क्या मै यहीं पड़ा हुआ था? वही भवन, वही स्तंभ, वही वेदी! सर्वत्र घृणा फैली है।" उन्होने क्षोभ से आँखे बन्द कर लीं और कहा—"मुझे दूर—दूर ले चलो; कही मैं इस भयानक अंधकार में फिर तुमको न खो दूँ।"·····श्रद्धा चुपचाप सिर सहलाती थी और आँखों में विश्वास भरे हुए थी, मानो कह रही हो—"तुम मेरे हो; अब किसी का क्या डर?" मनु जल पीकर कुछ स्वस्थ हुए, तब धीरे से कहने लगे—"मुझे इस मकान की छाया के बाहर ले चल। यहाँ न रहने दे। खुले आकाश के नीचे या कहीं गुफा में रह लेंगे। जो कुछ कष्ट पड़ेगा, सह लेगे।"······कामायनी ने कहा—"ठहरो; अभी कुछ तो बल आ जाने दो। फिर मैं तुम्हें तुरन्त लिवा ले चलूँगी। इतने समय तक क्या ये हमें रहने न देंगी?" इड़ा संकुचित दूर खड़ी थी। वह इस अधिकार को छीन न सकी। तब मनु बोले—"जब जीवन में साध और उच्छृङ्खल अनुरोध भरा था, हृदय में अभिलाषाएँ थीं और अपनेपन का बोध भरा था; मैं सुन्दर था और सुन्दर फूलों की छाया थी; जब उल्लास की माया फैल रही थी·····, सहसा क्षितिज से अधकार की वेग भरी आँधी उठी; हलचल से दुनिया विक्षुब्ध और

मानस-लहरी उद्वेलित हो गई। तभी व्यथित हृदय उस नीले नभ तले छाया-पथ-सा खुला और देवि! अपनी मगलमयी मुस्कराहट तुमने मुझे दी। तुम्हारी मूर्ति मेरे हृदय में घर कर गई और सुन्दरता की महिमा सिखाने लगी। उस दिन हम जान सके थे कि सुंदर किसको कहते हैं? तभी मैंने पहचाना कि प्राणी यह दुःख-सुख किसके लिए सहते हैं। जीवन यौवन से कहता—'मतवाले! तूने कुछ देखा?' यौवन कहता—'साँस लिये चल। अपना कुछ संबल पा ले।' हृदय सीपी-सा बन रहा था जिसमें तू स्वाति की बूँद बन गई। जब मानस-शतदल झूम उठा तब तुम उसमें मकरंद बन गई। तूने इस सूखे पतझड़ में कितनी हरियाली भर दी। मैंने समझा था कि मादकता है पर वह इतनी तृप्ति बन गई। जिस दुनिया में दुःख की आँधी और पीड़ा की लहरी उठती थी, जिसमें जीवन मरण बना था, वही विश्वास से भरा हुआ, शांत, मंगल, उज्ज्वल दिखने लगा और वर्षा के कदम्ब-कानन-सा हरा हो उठा। भगवति! यह पवित्र मधुधारा देखकर अमृत भी ललचने लगे; वह सौंदर्य-शैल से बही जिसमें जीवन धुल जाय। मेरे श्वास-पवन पर चढ़कर दूर से आनेवाले वंशी-रव के समान तुम गूँज उठी। जीवन-सागर के तल में जो मोती थे वे निकल आये।.....तुमने मुझे हँस-हँसकर सिखाया कि विश्व खेल है, खेल चलो। तुमने मुझे मिल कर बताया कि सबसे मेल करते चलो।.....तुम सुहाग की अजस्र वर्षा और स्नेह की मधु-रजनी हो। यदि जीवन चिर-अतृप्ति था तो तुम उसमें संतोष बनी थीं। तुम्हारा मुझ पर कितना उपकार है। किंतु मैं अधम उस मंगल की माया को समझ न पाया और आज

भी हर्ष और शोक की छाया को पकड़ रहा हूँ। शापित-सा मैं जीवन का यह कङ्काल लिये भटक रहा हूँ और उसी खोखलेपन में जैसे कुछ खोजता अटक रहा हूँ।..... जैसे तुम जो देना चाह रही हो, उसे मैं नहीं पा सक रहा हूँ। मुझ-जैसे क्षुद्र पात्र में तुम कितना मधु उँडेल रही हो; वह सब बाहर होना जाता है; मैं उसे स्वगत न कर सका। हृदय में बुद्धि और तर्क के छिद्र हो चुके थे इसलिए वह भर न सका। यह कुमार मेरे जीवन का ऊँचा अंश और कल्याण की कला है; यह मेरा कितना बड़ा प्रलोभन है, जिसमें हृदय स्नेह बनकर ढला है। यह सुखी रहे; और सब सुखी रहें। बस, मुझ अपराधी को छोड़ दो।" श्रद्धा मनु के भीतर उठती आँधी को देख चुप रही। दिन बीता, रात हुई। इड़ा मन की दबी उमंग लिये कुमार के समीप खड़ी थी। श्रद्धा भी खिन्न, थकी-सी, हाथों के सहारे लेटी, कुछ सोचती थी। मनु चुप सोच रहे थे—"जीवन सुख है! नहीं, एक विकट पहेली है। ऐ मनु! तू इन्द्रजाल से भाग। श्रद्धा को यह कलुषित मुख कैसे दिखाऊँ? और फिर इन कृतघ्न शत्रुओं का क्या विश्वास करूँ? श्रद्धा के रहते इनसे बदला लेना भी संभव नहीं। इसलिए यहाँ से चल देना चाहिए।"

जब सुबह सब उठे, तो देखा मनु नहीं हैं। कुमार 'पिता कहाँ?' की आवाज़ लगा रहा है। कामायनी मन से उलझी पड़ी है। इड़ा अपने को ही अपराधिनी समझ रही है।

१३—दर्शन

एक चंद्रहीन रात। उजले तारे झलमला रहे हैं और सरिता में

उनका प्रतिविम्ब है। धारा निश्चिन्त रूप से वह रही है। हवा धीरे-धीरे चलती है। वृक्ष चुपचाप खड़े हैं।···कुमार कहता है—"माँ! तू इधर दूर चली आई। कब की संध्या हो गई। इस निर्जन में अब तू कौन-सी सुंदर चीज़ देख रही है। बस, चल घर चलें।" श्रद्धा ने प्रेम से वह मुँह चूम लिया। बच्चे ने फिर पूछना शुरू किया—"माँ! तू इतनी उदास क्यों है? क्या मै तेरे पास नहीं हूँ? तू कई दिनों से यों चुप रह कर क्या सोच रही है? कुछ तो बता। ढीली साँस लेती है, जैसे निराश होती जाती हो?" माँ बोली—"वह अपार नील गगन है, जिसमें जल से भरे बादल हैं। दुःख-सुख आते जाते हैं। हवा बच्चे-सा खेल करती है। तारा-दल झिलमिला रहे हैं जैसे नभ-रजनी के जुगनू हों। यह विश्व कितना उदार है।···ससार आखें लाल किये जागता है और नींद का तम-जाल ओढ़कर सोता है पर इसकी सुषमा बनी रहती है। कभी तारे उगते हैं, कभी तारे झड़ जाते हैं। यह कितना विशाल है। इसके स्तर-स्तर मे अगाध और शीतल शाति है। यह चिर मगल और परिवर्तनमय है। इसमें सब भाव मुस्कराते हैं।···" इतने मे आवाज़ आई—"माँ! फिर इतना विराग क्यों? तुम मुझ पर प्रेम क्यों नहीं करतीं?" पीछे फिर कर श्रद्धा ने देखा तो मलिन मूर्ति इड़ा खड़ी है—जैसे राहु ने चद्रमा को ग्रस लिया हो; उस पर विषाद की रेखा है। उसका भाग्य जग कर सो गया है। कामायनी बोली—"तुमसे विरक्ति कैसी? तुमने तो मुझसे बिछुड़े हुए को सहारा देकर जीवन की रक्षा की। तुम आशामयी हो। चिर आकर्षण हो; तुम मनु के मस्तक की चिर-अतृप्ति हो, तुम उत्तेजित

बिजली की शक्ति हो। मैं तुम्हें क्या दे सकती हूँ ?...

मैं हँसती हूँ, रो लेती हूँ,
मैं पाती हूँ, खो देती हूँ,
इससे ले उसको देती हूँ,
मैं दुख को सुख कर लेती हूँ,
अनुराग भरी हूँ मधुर घोल
चिर विस्मृति-सी हूँ रही डोल।

तुम्हारा प्रभापूर्ण मुख देखकर मनु एक बार अपनी चेतना भूल गये थे। नारी के पास तो माया-ममता का ही बल है। वह शक्तिमयी शीतल छाया है। फिर कौन क्षमा कर दे कि यह भूतल धन्य बने। मैं तो तुमसे क्षमा माँगती हूँ।"

इड़ा बोली—"मैं अब मौन नहीं रह सकती। यहाँ कौन अपराधी नहीं है ? सभी जीवन मे सुख-दुःख सहते हैं पर केवल अपना सुख कहते हैं। अधिकार सीमा में नहीं रहते; पावस के निर्झर सीमा तोड़कर बह जाते हैं। फिर भला उनको कौन रोके ? वे सबको यही कहते हैं—'तुम शत्रु हो न!' यहाँ फूट बढ़ रही है; सीमा टूट रही है। श्रम को लेकर वर्ग बन गये हैं जिन्हें अपने बल का गर्व है। सब लालसा की मदिरा से उन्मत्त हैं। मेरा साहस अब छूट गया है मै जनपद को कल्याणी के नाम से मशहूर थी पर अब अवनति के कारण निषिद्ध हूँ। मेरे सुविभाजन विषम हो गये; बने नियम नित्य टूटते हैं।...तो क्या मैं नितान्त भ्रम में थी ?...क्या असहाय, निर्बल होकर प्राणी चुपचाप विनाश के मुख मे जाते रहें ? क्या

संघर्ष और कर्म का बल मिथ्या है? क्या शक्ति के ये चिन्ह और यज्ञ विफल हैं?.....तिस पर हे देवि! मैंने तुम्हारा दिव्य प्रेम और सुहाग छीना। मैं आज अपने को अत्यन्त दीन पाती हूँ: स्वय अपने को अच्छी नहीं लगती। मै जो कुछ गाती हूँ उसे स्वय नहीं सुन पाती। मुझे क्षमा दो; अपना विराग नहीं, जिससे मेरी सोई चेतनता जाग उठे।" श्रद्धा बोली—"तू सिर पर चढ़ी रही; तू ने हृदय न पाया; चेतन का सुखद अपनापन खो गया। सब अपने-अपने रास्ते चलने लगे और प्रत्येक वर्ग भ्रमित हुआ। जीवन-धारा तो एक सुंदर प्रवाह है। ऐ तर्कमयी तू प्रतिविम्बित ताराओं को पकड़-पकड़ कर उसकी लहरें गिनती रही।.....तूने सीधा रास्ता छोड़ दिया। तूने चेतनता के भौतिक टुकड़े करके जग को बाँट दिया। जिससे विराग फैला। यह नित्य जगत् चिति का स्वरूप है; यह सैकड़ों रूप बदलता है; इसके कण विरह-मिलन के नृत्य में लीन हैं और इसमें सतत उल्लास-पूर्ण आनन्द है। इससे एक ही राग झंकृत हो रहा है—"जाग! जाग!" मैं तो लोक-अग्नि में अच्छी तरह तप चुकी हूँ और प्रसन्न होकर शांति के साथ आहुति देती जाती हूँ। तू क्षमा न करके कुछ चाहती है। तेरी छाती जल रही है। मेरे पास जो निधि (कुमार) है उसे तू ले ले। मेरे लिए रास्ता पड़ा है। सौम्य! तुम यहीं रहो।.....दोनों राष्ट्र-नीति को देखो; शासक बनकर भय न फैलाओ। मैं अपने मनु को सरिता, पहाड़, कुंजों में खोजूँगी। वह इतना छली नहीं है; कहीं न कहीं मिल ही जायगा।" बालक बोला—"जननी! मुझसे ममता मत तोड़ और मुझसे यों

मुँह न मोड़ना। मैं तेरी आज्ञा का पालन करूँगा। मेरा जीवन वरदान हो; मैं मरूँ या जिऊँ पर मेरा प्रण न छुटे।" श्रद्धा बोली—"हे सौम्य! इड़ा का पवित्र दुलार तेरी पीड़ा हर लेगा। यह तर्कमयी है, तू श्रद्धामय है। तू मननशील होकर निर्भयता-पूर्वक कर्म कर और इसका सब संताप दूर कर दे। मनुष्य का भाग्योदय हो। हे मेरे पुत्र! माँ की पुकार सुन। सबकी समरसता का प्रचार कर।" "विश्वास-मूलक ये मीठे वचन मुझे कभी न भूलें। हे देवि! तुम्हारा प्रबल स्नेह दिव्य श्रेय का उद्गम बने और सारे सताप दूर हो जायँ।" यह कह कर इड़ा ने श्रद्धा के चरणों की धूल ग्रहण की और फूल-सा मृदुल कुमार का हाथ पकड़ा। वे तीनों क्षण भर अपने को भूल गये कि हम कहाँ हैं और कौन हैं। यह विच्छेद तो बाहरी था; हृदय आलिंगन कर रहे थे; यह बड़ा मधुर मिलन था। जल-कण मिल जाते हैं तब लहरों का परिणत जीवन बनता है। इड़ा और कुमार नगर की ओर लौट चले।......श्रद्धा दूसरी ओर चल दी।......चलते-चलते एक जगह, सरस्वती-तट पर लतावृत गुफा में किसी के साँस लेने की आहट पाकर श्रद्धा देखती है तो दो आँखें चमक रही हैं। यह मनु थे। निर्जन तट था।......मनु ने एक चित्र देखा जो कितना पवित्र था। वे शैल-शिखर उन्नत थे पर श्रद्धा का सिर उनसे भी ऊँचा उठा हुआ प्रतीत हुआ। वह लोक-अग्नि में तप-गल कर स्वर्ण-प्रतिमा-सी बन गई थी। मनु ने देखा कि वह विश्वमित्र-मातृमूर्ति कितनी विचित्र है। बोले—"तुम रमणी नहीं हो जिसके हृदय में चाह भरी हो। तुमने अपना सब कुछ खोकर जिसे रोकर

पाया था और मैं जिससे प्राण लेकर भागा उसको भी देकर क्या तुम्हारा मन कराह नहीं उठा ? तेरे मन का प्रवाह अद्‌भुत् है। वे हिंसक लोग और वह कोमल बालक ! जो कोमल वाणी सुनता था, जिसको निर्मल दुलार मिला था। तेरा हृदय कैसा कठोर है। वह इड़ा फिर छल कर गई। तुम अभी तक धीर बनी हो।......"

श्रद्धा बोली—"प्रिय ! तुम अब तक इतने शंकित हो ? देने से कोई रक नहीं होता। यह विनिमय है। तुम्हारा ऋण अब धन बन रहा है। वह बंधन अब मुक्ति बना है। तुम तो स्वजनों को छोड़कर चले आये थे। फिर अब क्यों दुखी हो रहे हो ? अब तो प्रसन्न होना चहिये।"

मनु बोले—"देवि ! तुम कितनी उदार हो। यह निर्विकार मातृ-मूर्ति है। हे सर्वमंगले ! तुम महान हो। सबका दुःख अपने ऊपर उठा लेती हो; कल्याणमयी वाणी कहती और क्षमा—निलय बनी रहती हो। मैं तुमको देखकर वह लघु विचार भूल गया हूँ। इस निर्जन तट पर अधीर पड़ा भूख, व्यथा, तीक्ष्ण वायु सहन कर रहा हूँ। मैं सत्ता खोकर शून्य हो गया हूँ। मेरी लघुता मत देखो।"

श्रद्धा बोली—"प्रियतम ! इस निस्तब्ध रात में वह विगत घड़ी याद आती है जब प्रलय के बाद की शान्ति में मैं अपने जीवन को अर्पित कर तुम्हारी हुई थी। क्या मै इतनी दुर्बल हूँ कि तुम्हें भूल जाऊँगी ? तब चलो, जहाँ शान्ति मिले। मै सदा तुम्हारी हूँ।...देव-द्वंद्व का प्रतीक मानव, अपनी सब भूले ठीक कर ले। यह जो महा-

विषमता का विष फैला है, वह अपनी कर्म की उन्नति से सम हो जाय; सब मुक्त बनें, सब के भ्रम कट जायँ; शुभ सयम ही उनका रहस्य हो। जो असत् है, वह गिर जायगा।"

उस घोर अंधकार में मनु देखने लगे, जैसे सत्ता में स्पन्दन हो रहा हो। उस अंधकार के सागर में ज्योत्स्ना की सरिता-समान आलोक-पुरुष के दर्शन हुए। अंधकार उसके फैले बालों-सा दिखता था। शून्य मेदिनी चित् शक्ति के अन्तर्निनाद से पूर्ण थी। नट-राज स्वयं नृत्य-निरत थे, अंतरिक्ष मुखरित था; स्वर लय होकर ताल दे रहे थे; दिशा-काल लुप्त हो रहे थे। वह सुन्दर ताण्डव आनंद से पूर्ण था; श्रम-सीकर झड़ते थे और उनसे तारा, हिमकर, दिनकर बनते थे; भूधर धूलि-कण से उड़ रहे थे। दोनों पाँव संहार और सृजन की भाँति गतिशील थे। अनाहत नाद हो रहा था। असंख्य ब्रह्माण्ड बिखरे हुए थे। जिधर विद्युत् का कटाक्ष चल जाता था, उधर ही संसृति काँप उठती थी। अनन्त चेतन परमाणु बिखरते, बनते, विलीन होते थे।...उस शरीरी शक्ति के प्रकाश ने सब पाप-शाप का विनाश कर दिया। 'नर्तन में निरत प्रकृति गलकर और उस कांति-सिंधु में घुल-मिल कर अपना सुन्दर स्वरूप धारण करती है और जो भीषण था वह कमनीय हो जाता है।' मनु ने नटेश का यह नृत्य देखा तो बेहोशी में पुकार उठे—"यह क्या ? श्रद्धे ! बस तू उन चरणों तक ले चल, जिनमें सब पाप-पुण्य जल कर पवित्र और निर्मल हो जाते हैं और असत्य-से ज्ञान खंड मिट जाते हैं और सतत आनन्द की अखण्ड समरसता आ जाती है।"

१४—रहस्य

ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं; बर्फ से ढके हुए। उनपर मार्ग बनाते दोनों पथिक न जाने कब से ऊँचे चढ़ते चले जा रहे हैं। श्रद्धा आगे है, मनु पीछे। जैसे साहस और उत्साही। उलटी हवा चल रही है, मानो कहती हो—"बटोही, लौट जा। तू मुझे भेद कर किधर चला है? प्राणों के प्रति इतना निर्मोही क्यों है?" अम्बर छूने को ऊँचाई हमेशा बढ़ी जा रही है। उसके अंग भीषण रूप से विक्षत हैं। कहीं भीषण खड्ड, कहीं भयंकरी खाईं हैं। रवि की किरणें हिमखडों पर पड़कर कितने ही हिमकर बनाती हैं। और पवन शीघ्र चक्कर काट कर वहीं लौट आता है। नीचे सुन्दर सुरधनु की माला पहने बादल दौड़ रहे हैं, हाथियों-सदृश, चपला के गहने पहने हुए इठलाते हैं। तलहटी या नीचे के प्रदेश में सैकड़ों निर्झर यों बह रहे हैं जैसे महाश्वेत गजराज के गडस्थल से मधु की धाराएँ बह रही हों।.....मनु बोले—"श्रद्धे! तुम मुझे कहाँ ले जा रही हो मैं बहुत थक गया हूँ। मेरा साहस छूट गया है। निराश पथिक हूँ। लौट चलो। मैं कमज़ोर इस अंधड़ से लड़ न सकूँगा और श्वास रुद्ध करनेवाली इस ठडी हवा में अड़ नहीं सकूँगा। जिनसे रूठकर आगया हूँ, वे सब मेरे थे। वे दूर नीचे छूट गये हैं। उनको मै भूल नहीं पाया हूँ।"

श्रद्धा के मुख पर विश्वासभरी निश्छल मुस्कराहट झलक उठी। उसके हाथ सेवा कुछ करने को ललक उठी थी। अपने विकल साथी को सहारा देते हुए मधुर स्वर में कामायनी बोली—"हम बहुत दूर

निकल आये हैं । अब दिल्लगी करने का वक्त नहीं है । दिशाएँ काँप रही हैं, पल असीम है; यह ऊपर कुछ अनन्त-सा है । क्या तुम सचमुच अनुभव करते हो कि तुम्हारे पाँव के नीचे भूधर है ? हम निराधार हैं पर हमें आज ठहरना यहीं है । नियति का खेल न देखूँ, अब इसका कोई दूसरा उपाय नहीं है । तुमको जो झाईं लगती है वह ऊपर उठने को कहती है···। थके हैं, इसलिए बस आखे बद करके, दो चिड़ियों की तरह, हम आज यहाँ रहेंगे । पवन पंख बनकर हमें आधार दे । घबड़ाओ मत । यह समतल भूमि है । देखो तो हम कहाँ आ गये ?" मनु ने आँखे खोलकर देखा, जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये हो ।···वहाँ गरमी थी; ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त थे; दिन-रात के सधिकाल में ये व्यस्त नहीं थे । ऋतुओं का स्तर छिप गया, भूमंडल की निशानी मिट गई । निराधार उस महादेश मे नवीन-सी चेतनता उदित हुई । तीन दिशाओंवाला विश्व और तीन आलोकविंदु अलग अलग दिखाई पड़े, मानो वे त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे । मनु ने पूछा —"श्रद्धे, मुझे, बताओ, ये नये ग्रह कौन हैं ? मैं किस दुनिया में पहुँच गया ? मुझे इस इंद्रजाल से बचाओ ।" श्रद्धा बोली—"इस त्रिकोण के बीच शक्ति और विपुल क्षमतावाले विंदुओं में से एक-एक को तुम स्थिर होकर देखो । ये इच्छा, ज्ञान, क्रिया के विंदु हैं । वह देखो, उषा के कंदुक-सा सुंदर जो रागारुण है; जो सुंदर, छायामय कलेवरवाला भावमयी प्रतिमा का मदिर है वहाँ शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की सुदर पारदर्शी पुतलियाँ नृत्य करती हैं । इस कुसुमाकर के कानन के अरुण-पराागवाले पाटलों की छाया में ये

इठलाती, सोती और जागती हैं। उनकी संगीतात्मक ध्वनि कोमल अँगड़ाई लेती है और मादकता की लहर से अपना अम्बर तर कर देती है। आलिंगन के समान मधुर प्रेरणा छू लेती है, फिर सिहरन बनती है। यह जीवन की मध्य भूमि है जो रस-धारा से सींची जाती है; मधुर लालसा की लहरों से यह स्रोतस्विनी स्पंदित होती है, जिसके तट पर विद्युत्कणों के समान मनोहारिणी आकृतिवाले, सुन्दर मतवाले लोग विचर रहे हैं। इस भूमि के सुमनों के भरे हुए रंध्रों से रस भीनी मधुर गंध उठती है; वाष्प अदृश्य है। हलकी बूँदे फेंकते हुए फुहारे छूट रहे हैं। यहाँ चारों तरफ चलचित्रों के समान संसृति छाया घूम रही है। उस आलोक विंदु को घेरे हुए माया बैठी मुस्काती है। यह भाव के चक्र चलाती है। इच्छा की रथ-नाभि घूमती है और नवरस भरी तीलियाँ चक्कर (पहिये) को चूमती हैं। यहाँ मनोमय विश्व राग से अरुण चेतन की उपासना कर रहा है। यह माया-राज्य है। जाल बिछाकर जीव फँसाना ही यहाँ का तरीका है। ये अशरीरी रूप सुमन के समान केवल वर्ण और गंध में फूले हुए हैं।......इसी लोक की भाव-भूमिका सब पाप-पुण्य की जननी है। मधुर ताप की ज्वाला से गलकर अपने ही स्वभाव की प्रतिकृति में सब ढलते हैं। भाव-विटप से नियममयी उलझनों की लता के आ मिलने से, और आशा के नव-कुसुमों के खिलने से जीवन-वन की एक समस्या खड़ी हो गई। यह चिर वसंत का उद्गम है। पर इसमें पतझड़ भी है। यहाँ अमृत-विष एक में आकर मिल गये हैं और दुःख सुख एक डोर में बँधे हैं।"

मनु—"बड़ा सुन्दर। पर वह श्याम देश कौन है? कामायनी! बताओ, उसमें क्या विशेष रहस्य है?"

श्रद्धा—"मनु! यह श्यामल कर्म-लोक है। कुछ धुँधला और अँधेरा-सा हो रहा है; धुएँ से मलिन हो रहा है। नियति की प्रेरणा बनकर यह गोलक कर्म-चक्र-सा घूम रहा है। सब के पीछे कोई नई आकांक्षा लगी हुई है। यह श्रममय, कोलाहल और पीड़न से भरा हुआ महायत्र के विकल विवर्तन (फेरे)-सा है। क्षण-भर भी यहाँ विश्राम नहीं है। प्राण क्रिया-तंत्र का दास है। यों भाव-राज्य के सब मानसिक सुख दुःख में बदल रहे हैं। हिंसा से गर्वोन्नत हारों में ये अकड़े अणु टहल रहे हैं। ये भौतिक प्राणी कुछ करके यहाँ जीवित रहना चाहते हैं। भाव-राष्ट्र के नियम यहाँ पर दण्ड बन गये हैं। सब दुखी हैं; सब कराहते हैं। करते हैं पर संतोष नहीं; इसलिए कशाघात से प्रेरित हो प्रतिक्षण करते ही जाते हैं। नियति तृष्णाजनित ममत्व-वासना का यह कर्म-चक्र चलाती है और यहाँ हाथ-पैरवाले पंचभूत की उपासना हो रही है। यहाँ सतत संघर्ष है, विफलता है और कोलाहल का राज्य है। सारा समाज मतवाला होकर अंधकार में दौड़ लगा रहा है। कर्मों की भीषण परणति हो रही है; लोग रूप बनाकर स्थूल हो रहे हैं। यह आकांक्षा की तीखी प्यास और ममता की निर्मम गति है। यहाँ शासनादेश और घोषणा विजयों की हुंकार सुनाती है और भूख से विकल दलित को बार-बार पावों में गिरवाती है। यहाँ कर्म का दायित्व लिये लोग उन्नति करने के मतवाले हो रहे हैं और ढुलकर बहनेवाले छाले जला-जलाकर फोड़े जा रहे हैं।

यहाँ विपुल वैभव के ढेर सब मरीचिका-से दिखाई पड़ते हैं। लोग क्षणिक भोगों के भाग्यवान बनकर विलीन हो जाते हैं और ये वैभव गड़ जाते हैं। सुयश की बड़ी लालसा से यहाँ लोग अपराधों को स्वीकार कर लेते हैं। अंध प्रेरणा से परिचालित होते हुए भी कर्ता में अपनी गिनती करते हैं। प्राणतत्व की साधना में यहाँ जल हिम और उपल बन जाता है; प्यासे घायल हो जल जाते हैं और वे मर-मर कर जीते हैं। यहाँ नील लाल ज्वाला नित्य कुछ जला-जलाकर ढालती है—ऐसी धातु जिसको मृत्यु नहीं सालती। वर्षा के घन आवाज़ कर रहे हैं। और किनारों—कूलों को गिराती तथा वन-कुंजों को भिगोती सरिता लक्ष्य-प्राप्ति की ओर बहती जा रही है।"

मनु—"बस ! अब तू इसे न दिखा। यह बड़ा भीषण कर्म-जगत् है। श्रद्धे ! वह पुंजी भूत रजत् जैसा उज्ज्वल क्या है ?"

श्रद्धा—"प्रियतम ! यह ज्ञान-क्षेत्र है। यहाँ सुख-दुःख से उदासीनता रखते हैं। यहाँ न्याय निर्मम है और बुद्धि-चक्र चलता है जिसमें दीनता नहीं है। ये अणु तर्क और युक्ति से अस्ति-नास्ति का भेद करते हैं। ये निस्संग हैं पर मुक्ति से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। यहाँ केवल प्राप्य मिलता है, तृप्ति नहीं। बुद्धि भेद करके सकल विभूतियों को सिकता-सी करके बाँटती है और प्यास लगने पर ओस चाटती है। ये प्राणी न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे हुए चमकीले लगते हैं, जैसे निदाघ-मरु में सूखे स्रोतों के तट जगते हों। मनोभावों से कर्म के समतोलन में ये दत्तचित्त हैं। ये निस्पृह न्यायासनवाले नियम से ज़रा भी नहीं चूक सकते। ये अपना परिमित पात्र लिए हुए, बूँद-बूँद-

वाले निर्झरों के समान, यहाँ अजर-अमर से बैठे, जीवन का रस माँग रहे हैं। यहाँ धर्म की तुला पर तौल-तौलकर अधिकारों की व्याख्या की जाती है। कमलवाले तालाबों में जैसे मधुमक्खिकाएँ मधु एकत्र करती हैं, वैसे ही ये जीवन का मधु एकत्र कर रहे हैं। उत्तमता ही इनका निजस्व है। यहाँ अंधकार को भेद कर शरद की उज्ज्वल चाँदनी निकलती है।......देखो, वे सब सौम्य बने हुए हैं पर दोषों से शकित हैं। परितोषों के मिस दंभ के भ्रू-संकेत चलते हैं। यहाँ जीवन-रस अछूत रहा; कहा गया कि उसे छुओ मत, सञ्चित होने दो। बस, तृषा ही तुम्हारा भाग है। ये सामञ्जस्य करने चले थे पर विषमता फैलाते हैं। मूल स्वत्व कुछ और बताते और इच्छाओं को झूठा कहते हैं। स्वयं व्यस्त पर शात बने हुए शास्त्र शास्त्र की रक्षा में पलते हैं। ये विज्ञान से भरे अनुशासन क्षण-क्षण परिवर्तन में ढलते हैं।... तुमने देखा, यही त्रिपुर है जिसमें तीन बिंदु इतने ज्योतिर्मय हैं। अपने दुःख-सुख में केन्द्रित, ये कितने भिन्न हो गये हैं। ज्ञान कुछ दूर पड़ा है, क्रिया अलग है, फिर मन की इच्छा क्यों पूरी हो? एक दूसरे से न मिल सके, यह जीवन की विडम्बना है।"

फिर महाज्योति की रेखा बनकर श्रद्धा की मुस्कराहट उनमें दौड़ गई। एकाएक तीनों सम्बद्ध हो गये और उनमें ज्वाला जाग उठी। वह लचकीली ज्वाला नीचे-ऊपर विषम वायु में धधक रही थी, मानो महाशून्य में कोई सोनहली ज्वाला 'नहीं-नहीं' कह रही हो। प्रलय पावक का शक्ति-तरंग उस त्रिकोण में निखर-सा उठा। बस, सारे विश्व में शृंग और डमरू का स्वर बिखर उठा। चितिमय चिता

निरन्तर धधक रही थी। महाकाल का विषम नृत्य था।...स्वप्न, स्वाप और जागरण भस्म हो गये और इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिलकर लय हो गये। बस, दिव्य अनाहत निनाद में श्रद्धायुत मनु तन्मय थे।

१५—आनन्द

सरिता के रम्य पुलिन में, अपनी यात्रा का संबल लिये हुए, गिरि-पथ से यात्रियों का एक दल धीरे-धीरे चलता था। धर्म का प्रतिनिधि धवल वृष सोम-लता से आवृत था। गले में घंटा बजता था। उसी के साथ मनुष्य था, जिसके बायें हाथ में बैल की रस्सी थी और दाहिने हाथ में त्रिशूल था। उस मुख पर अपरिमित तेज था। उसका शरीर शेर के बच्चे-सा गठित और प्रस्फुटित था। यौवन गंभीर हो रहा था, जिसमें कुछ नये भाव थे। बैल की दूसरी तरफ़ इड़ा भी चुपचाप चल रही थी। वह गैरिक वस्त्र पहने थी—उस संध्या के समान जिसके सब कलरव चुप हो गये हों। युवकों में उल्लास था। शिशु हँसते-किलकते थे। स्त्रियों के मंगल गानों से वह यात्री-दल मुखरित था। चामरों पर बोझ लदे हुए थे जिन पर कुछ बच्चे भी बैठे थे। माताएँ उनको पकड़े बातें करती जाती थीं और समझाती जाती थीं कि हम कहाँ चल रहे हैं! एक कहता—"तू तो कब से सुनाती है कि अब पहुँच गई, वह आगे ज़मीन है पर बढ़ती ही जाती है, रुकने का नाम नहीं लेती। बता वह तीर्थ कहाँ है जिसके लिए इतनी दौड़ रही है?" माँ कहती—"वह अगला मैदान जिस पर देवदारु का जंगल है, जब उसी ढालवें को-उतर जायँगे तो वह पावन और उज्ज्वल तीर्थ

सामने आ जायगा।" वह बालक इड़ा के पास पहुँच कर उसे रुकने को बोला; वह कुछ और कहानी सुनने को मचल गया था। इड़ा पथ-प्रदर्शिका-सी धीरे-धीरे डग भरती चल रही थी; वह बोली—"हम जहाँ जा रहे हैं, वह संसार का पवित्र, शीतल और शात तपोवन है और किसी का साधना स्थान है।" बालक ने पूछा—"कैसा ? शात तपोवन क्या ? तुम विस्तार से साफ़-साफ क्यों नहीं बताती ?" तब इड़ा ने सकुचाते हुए कहा—"सुनते हैं, संसार की ज्वाला से विकल और झुलसा हुआ एक मनस्वी वहाँ आया। उसकी वह भयानक जलन दावाग्नि बनकर वन मे फैल गई। उसी की अर्द्धांगिनी उसे खोजती आई और यह दशा देख करुणा से उसे आँसू भर आये। उसके आँसू जग के लिए मगलकारी बन गये; सब ताप शात हो गया; वन फिर हरा और ठण्डा हो गया। गिरि से निर्झर उछल कर वह निकले; फिर से हरियाली छा गई। सूखे तरु हँसने लगे; पल्लव में लाली फूट पड़ी। वे दोनो अब वहीं बैठे हुए संसार की सेवा करते हैं; संतोष और सुख देकर सब की ज्वाला दूर करते हैं। वहाँ महाह्रद नाम की निर्मल झील है जो मन की प्यास बुझाता है। उसे मानस कहते हैं। जो वहाँ जाता है, सुख पाता है।" बालक ने फिर पूछा—"तो तू यह बैल वैसे ही क्यों चला रही है ? इस पर बैठ क्यों नहीं जाती ? अपने को क्यों थकाती है ?" इड़ा बोली—"हम सारस्वत नगर के निवासी यात्रा करने और अपने व्यर्थ और रिक्त जीवन-घट को अमृत-सलिल से भरने आये हैं। वहाँ जाकर धर्म के प्रतिनिधि इस बैल को उत्सर्ग करेंगे। यह सदा

मुक्त, निर्भय और स्वच्छन्द रहेगा और सुखी होगा।" सब सँभल गये थे, क्योंकि आगे कुछ नीची उतराई थी।.....क्षण-भर में श्रम, ताप, पीड़ा अन्तर्हित हो गये; सामने विराट् सफेद पर्वत अपनी महिमा से विलसित था। उसकी तलहटी मनोहर हरे तृण-पौधों से भरी थी; उसमें कुंज, गुहा-गृह थे। सामने झील थी। यात्री दल ने रुक कर मानस का निराला दृश्य देखा,—जैसे मरकत की वेदी पर हीरे का पानी रखा हुआ है। या छोटा-सा प्रकृति का दर्पण हो; या राकारानी सोई हुई हों। दिनकर गिरि के पीछे थे और हिमकर आकाश में दिखाई दे रहा था; कैलास इस सौन्दर्य के बीच किसी ध्यान में निमग्न बैठा था। वल्कलवसना संध्या उस सर के समीप आ गई। वह कदम्ब की रसना पहने थी और तारों से उसकी अलक गुँथी थी। चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। कल हंस कलरव कर रहे थे; किन्नरियाँ प्रतिध्वनि बनी हुई नई तानें ले रही थीं। उस निर्मल मानस-तट पर मनु ध्यानमग्न बैठे थे; पास ही फूलों से अंजलि भर कर श्रद्धा खड़ी थी। श्रद्धा ने सुमन बिखरा दिया—आकाश में शत-शत मधुप गुञ्जार कर उठे। सबने पहचान लिया था, तब वे कैसे रुकते। मनु प्रकाश से चमक रहे थे, तब वे सब क्यों न प्रणाम करते? तब सोमवाही वृषभ भी घंटा की ध्वनि करता बढ़ चला। इड़ा के पीछे मानव भी डग भरता चल रहा था। इड़ा आज भूली थी पर क्षमा न चाह रही थी। यह दृश्य देखने के लिये अपनी दोनो आँखों को सराह रही थी। चिरलग्न प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन आनंद के सागर में अपनी शक्ति से तरंगायित

था। मानव उसे देखकर श्रद्धा की गोद में लिपट गया। इड़ा ने चरणों पर शीश रख दिये और गद्‌गद् स्वर में बोली-"मैं धन्य हुई जो यहाँ आई। हे देवि! बस तुम्हारी ममता मुझे यहाँ तक खींच लाई। भगवति! मैं समझ गई कि मुझे कुछ भी समझ नहीं थी। मैं सिर्फ सब को भुला रही थी। मुझे यही अभ्यास था। हम, इस दिव्य तपोबन के बारे में सुन कर, जिसमें सब पाप छूट जाता है, एक कुटुम्ब बना कर यात्रा करने आये हैं।" मनु ने कुछ मुस्कराते हुए कैलास की तरफ दिखलाया। बोले—"देखो, यहाँ कोई भी पराया नहीं है। हम न ग़ैर है, न कुटुम्बी हैं; हम केवल हम हैं। तुम सब मेरे अंग हो जिसमें कुछ कमी नहीं है। यहाँ कोई शापित नहीं, कोई तापित पापी नहीं। यहाँ जीवन की ज़मीन समतल है; जो जहाँ है, समरस है। चेतन-समुद्र में जीवन लहरों-सा लहराता है। इस चाँदनी के सागर में नक्षत्र बुद्‌बुद से चमकते हैं; वैसे ही अभेद के सागर में प्राणों का सृष्टि-क्रम है। सब में घुल-मिलकर रहता है:—यही सर्वोच्च भाव है। अपने दुःख-सुख से पुलकित यह सचराचर मूर्त्त विश्व चिति का विराट् पर मंगलकारी शरीर है। यह सतत सत्य है; यह चिर सुन्दर है। सब की सेवा पराई नहीं, वह अपने ही सुख की सृष्टि है। सर्वत्र अपना ही अणु-अणु कण-कण है। द्वयता—द्वैत बुद्धि—ही तो विस्मृति है। 'मैं' की वही चेतनता सब को स्पर्श किये हुए है। जो भिन्नता है वह परिस्थितियों की है। उषा के दृग में जग ले; निशा की पलकों में सो ले; उलझनवाली आँखो में स्वप्न देख ले। चेतन का साक्षी मानव निर्विकार होकर हँसते, और मानस के मधुर मिलन

में गहरे धँसते हुए, सब भेदभाव भुलाकर दुःख-सुख को दृश्य बनाता है। मानव कहता है—"यह मैं हूँ, तो विश्व नीड़ बन जाता है।"

श्रद्धा के मधु-अधरों पर रागारुण-किरण-सी मुस्कराहट बिखरी। वह कामायनी, जगत् की अकेली मंगल-कामना, ज्योतिर्मयी थी। वह विश्व की चेतना को पुलकित करनेवाली पूर्ण काम की प्रतिमा थी।...जिस मुरली के निस्वन से यह शून्य रागमय होता, वह कामायनी हँसती तो अग-जग मुखरित होता था। क्षण-भर में विश्व-कमल का प्रत्येक अणु बदल गया था जिसमें पीले पराग-सा आनंद का अमृत छलक रहा था। परिमल की बूँदों से सिंचित् मधुर वायु बहती थी।.....वल्लरियाँ नाच रही थीं। सुगंध की लहरें बिखर रही थीं। वेणु के रंध्र से मूर्च्छना निकल रही थी। मधुकर मदमाते होकर मधुर नूपुर-से गूँजते थे। वाणी वीणा के ध्वनि-सी शून्य मे प्रतिध्वनित होती मिल रही थी।.....डाल-डाल में मृदु मुकुल भालर से लटके हुए थे। रस के भार से सब प्रफुल्ल सुमन धीरे-धीरे बरस गये। हिम-खण्ड किरणों से मण्डित हो मणि-दीप-सा प्रकाश करता था और समीर उनसे टकराकर मधुर मृदंग बजा रहा था। मनोहर सगीत उठता था; जीवन की मुरली बजती थी। कामना संकेत बनकर मिलन की दिशा बताती थी। रश्मियाँ अप्सराएँ बनी अंतरिक्ष में नाचती थीं। आज पाषाणी हिमवती प्रकृति मासल-सी हो गई थी। उस लास-रास में विह्वल हो वह कल्याणी हँसती थी। चद्र का किरीट पहने पुरुष पुरातन-सा वह रुपहला पर्वत स्पन्दित होकर मानसी गौरी की लहरों का कोमल नर्तन देखता था। सब की आँखें उस विमल प्रेम-ज्योति से खुल गईं। सब एक-दूसरे को पहचाने-से, अपनी ही एक कला-समान, लगने लगे। जड़ चेतन समरस थे। सुंदर साकार बना था। एक चेतनता विलसती थी। अखण्ड आनंद घनीभूत हो गया था।

[१०]

कामायनी की महत्ता

मैं पहले कहीं लिख चुका हूँ कि हिन्दी-साहित्य में 'कामायनी' का प्रकाशन एक घटना है। युगों तक अरण्य में भटकने और सस्ती भावुकता की आँधी में उड़ने के बाद हिन्दी-काव्य के मानस को यहाँ समुद्र की विशालता प्राप्त हुई है; काव्य ने स्वरूप को पहचाना और अपनी आत्मा को प्राप्त किया है। कामायनी आधुनिक हिन्दी-काव्य का रामचरित-मानस है। और बड़े गर्व के साथ इसे हम विश्व-साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों के सामने रख सकते हैं।

कामायनी का कथा-भाग वैदिक उपाख्यानों से लिया गया है। इसमें एक नूतन मानवी युग—मन्वन्तर—की प्रतिष्ठा के ऐतिहासिक प्रयत्न का चित्र है। देव गण के उच्छृङ्खल स्वभाव, भोग-विलास और निर्बाध आत्म तुष्टि का महान् जल-प्लावन में अन्त हो गया। यह जल-प्लावन भारतीय इतिहास के प्रागैतिहासिक काल की एक प्रधान घटना है। इसका वर्णन ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में विशेष रूप से मिलता है। आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रकार के जल-प्लावन की कोई न कोई कथा प्राय: सभी प्राचीन सभ्यताओं के साथ जुड़ी हुई है। प्राचीन बैबिलोनियन साम्राज्य के अभ्युत्थान काल में जो महा-काव्य वहाँ लिखे गये थे उनमें भी महा-प्रलय (Great Deluge) और सृष्टि के नवीन क्रम की कथा का वर्णन हुआ। बैबिलोनियन

लोग चैल्डिया में सीरिया से आये थे। इससे प्रकट होता है कि सीरिया में भी वे कथाएँ प्रचलित रही होंगी। बाइबिल के कुछ प्रारम्भिक अध्यायों में भी इसी महाप्रलय की छाया दिखाई देती है। अरब तथा मिस्र में भी हज़रत नूह की नाव तथा जल-प्रलय का वर्णन है। पुराणों में भी जल-प्रलय की कथाएँ मिलती हैं। इससे मालूम होता है कि जल-प्लावन निश्चय ही एक बड़ी घटना थी, कोई कहानी नहीं। इससे यह अनुभव भी किया जा सकता है कि जल-प्लावन के बाद वहाँ से बचे लोग भिन्न दिशाओं और देशों मे चले गये होंगे और वहाँ नवीन सभ्यताओं का निर्माण किया होगा। अथवा यह भी हो सकता है कि जल-प्रलय के बाद जब फिर नूतन समाज की रचना हुई तो उसी में से लोग भिन्न-भिन्न देशों को चले गये।

मनु के ऐतिहासिक पुरुष होने और एक नई मानवी सभ्यता का निर्माण करने की पुष्टि इससे भी होती है कि कुलू के उत्तरी छोर पर मनाली में मनु का एक प्राचीन मंदिर है। कुलू को देवों की घाटी भी कहा जाता है। भारत में मनु का मंदिर केवल यहीं है। और यहाँ वशिष्ट, व्यास आदि के आश्रम और मंदिर भी हैं। जान पड़ता है, मनु ने अपनी मानवी सभ्यता यहाँ प्रतिष्ठित की थी।

चाहे जो हो, मानना पड़ेगा कि यह जल-प्लावन हमारे आदि इतिहास की एक महान् घटना है। इसके बाद मानवता के एक सर्वथा नूतन युग का आरम्भ हुआ। एक नवीन सभ्यता की प्रतिष्ठा की गई। इसी का वर्णन 'कामायनी' में है। 'प्रसाद' जी ने इस कथा-भूमि के ऊपर मानवता का एक श्रेष्ठ आकार खड़ा कर दिया है।

उन्हें जो कुछ कहना था, उसके लिए यह कथा एक आदर्श साधन के रूप में उन्हें मिली। इससे एक ओर वह उच्छृङ्खल विलास और बुद्धि-क्रीड़ा के प्रति होने वाले विद्रोह के रूप में अपनी उस कल्याण-कारी विद्रोह-भावना को व्यक्त कर सके जिसको वह हमारे साहित्य में शुरू से ले आये थे और दूसरी ओर उस भावना के मूल में आनद के एक शाश्वत तत्वज्ञान का कलामय रूप उन्होंने हमारे सामने रखा। 'कामायनी' में विद्रोह भी है और उस विद्रोह का समाधान भी है।

साधारण कथा तो इतनी ही है कि 'कामायनी' का नायक मनु महा-प्रलय के पश्चात् बच गया है। देव-सभ्यता का पूर्णतः पतन हो गया है। मनु चिंतित हैं। एकान्त में मन घबडाता है। इसी समय कामगोत्र की बाला कामायनी अथवा श्रद्धा से उनका परिचय होता है। मनु आकृष्ट होते हैं। श्रद्धा उनके यहाँ रहने लगती है। वह मानवीय संस्कारों की जड़ डालती है पर मनु के पुराने देव-संस्कार फिर जाग्रत होते हैं। वह शिकार करते, यज्ञ करते और बलि चढ़ाते हैं। श्रद्धा में उनको उस चंचलता का अभाव दीखता है जो पुरुष के मन को आकर्षित करती है। श्रद्धा माता होती है। उसकी ममता प्राणियों में बँट कर बढ़ रही है। पर मनु चाहते हैं कि यह दूसरों को क्यों स्नेह करे? सारा प्रेम मुझे ही क्यों न दे। इस ईर्ष्या और अहंकार के कारण मनु का मन उड़ा उड़ा फिर रहा है। वह भाग खड़ा होता है। सारस्वत प्रदेश में उसकी भेंट वहाँ की रानी इड़ा से होती है। इड़ा देवों की बहन थी

और मनु के ही यज्ञ-पूत अन्न से पली थी पर मनु को इसका पता न था। सारस्वत देश उजड़ रहा था और इड़ा को एक ऐसे आदमी की तलाश थी जो राजकार्य सँभाल सके। वह मनु से प्रार्थना करती और मनु उसकी ओर आकृष्ट होते और शासन-कार्य सँभालते हैं। राज्य खूब बढ़ता है। उसकी भौतिक उन्नति खूब होती है। मनु राज्य के सर्वस्व बन जाते हैं पर उनको इतने अधिकार से तृप्ति नहीं है। उनका मन इड़ा की ओर बार-बार दौड़ता है। वह उस पर भी अधिकार चाहते हैं। प्रमाद बढ़ता है और वह उसके साथ ज़बर्दस्ती करना चाहते हैं। इस पर देव क्रुद्ध हो उठते हैं और प्रजा विद्रोह कर देती है। मनु युद्ध मे घायल हो जाते और कई दिनों तक वेहोश पड़े रहते हैं। उधर श्रद्धा ने मनु की इस अवस्था का एक डरावना स्वप्न देखा है और बच्चे को लिये हुए मनु की खोज में चल पड़ी है। भटकते-भटकते वह इड़ा के यहाँ पहुँचती और रात-भर के लिए आश्रय लेती है। वहीं उसे घायल और वेहोश मनु दिखाई देते हैं। वह सेवा-सुश्रूषा से उनको होश में लाती है। मनु का स्नेह फिर उसकी ओर उमड़ता है। इड़ा तथा प्रजा की ओर से खीझ पैदा होती है। अच्छे होते हैं पर आत्मग्लानि, आत्म-वंचना और भ्रमपूर्ण विचारों एवं उलझनों के कारण एक दिन पुनः वहाँ से भाग खड़े होते हैं। श्रद्धा दुखी है। इड़ा को भी ग्लानि होती है। वह अपनी भूलो को समझती और श्रद्धा की ओर आकर्षित होती है। मनु—श्रद्धा के पुत्र मानव को तो वह बहुत प्यार करने लगी है। वही उसकी तृप्ति का केन्द्र है। वह श्रद्धा से अपने हृदय की अशांति

और अतृप्ति की बातें कहती है। श्रद्धा समझाती है और अपने पुत्र को भी इड़ा के हाथ सौंप देती है और कहती है—दोनों मिलकर लोक-कल्याण करो। इसके बाद मनु की खोज मे चल देती है। एक पर्वत की घाटी में मनु से भेंट होती है। अब मनु अपनी भूलें समझ चुके हैं। वह अब श्रद्धा का अनुगमन करते हैं और वह उन्हें संसार के विविध रूपों का दर्शन कराती हुई ऊँचाइयों पर ले जाती है। मनु थक जाते हैं पर श्रद्धा उनको खींचे लिये जाती है। अंत मे एक दिव्य समतल स्थान आता है। यहीं मानस सरोवर और कैलास हैं। वहाँ मनु को एकात्म्यानुभूति और समत्व का ज्ञान होता है और उस विराट् नृत्य के दर्शन होते हैं जिसमें सब भेदों का लय होकर आनंद की सम अवस्था की दिव्य चेतना जगती है। यह समत्व का श्रेष्ठ आनंद ही यात्रा की अंतिम मंज़िल है।

यह छोटी-सी कथा है पर इस कथा में मानव-सस्कृति की स्थापना का जैसे सारा इतिहास आ गया है। विलास-प्रधान देव-संस्कृति की जगह आनन्द-प्रधान और लोक-कल्याणमयी मानव-संस्कृति की स्थापना का इसमें चित्र है। इसमें सामाजिक प्रयोगों के दर्शन तो होते ही हैं पर उस तत्वज्ञान की भी एक झलक मिलती है जिसको लेकर ही मानव की आनन्द-साधना चल सकती है। कामायनी की कथा जहाँ एक प्राचीन ऐतिहासिक प्रयत्न की कथा है तहाँ वह सम्पूर्ण मानवता के चिरंतन द्वंद्व की कथा भी है। इस कथा के मूल में जिस रूपक का आभास हमें मिलता है उसकी एक श्रेष्ठ दार्शनिक पृष्ठभूमि है। और उसके कारण 'कामायनी' को

सम्पूर्ण मानवता के काव्य का गौरव प्राप्त हुआ है।

मनु एक मननशील प्राणी है। वह चेतन मन का प्रतिनिधि है। वह नवीन अनुभवों एवं विचारों के प्रकाश में सदा सीखता और विकसित होता है। उसके इस विकास में श्रद्धा का महत्व अनिवार्य है। विलास के पूर्व संस्कारों को श्रद्धा के द्वारा ही कल्याणकारी रूप दिया जा सकता है। मनुष्य में जो काम-प्रवृत्ति है, वह हेय नहीं है, निंदनीय नहीं है। पर श्रद्धाहीन होकर वह उच्छृंखल भोग-विलास और स्वार्थपरता में बदल जाती है। इस अधोगति से मन या मनु को ऊपर उठानेवाली श्रद्धा ही है। मन (या मनु) इस श्रेष्ठतर मार्ग में चलते हुए बार-बार विद्रोह करता है; वह निर्बाध विलास, निर्बाध अधिकार का भूखा है। इस निर्बाध अधिकार के लिए वह बुद्धि (इड़ा) का आश्रय तथा सहायता लेता है और उसकी सहायता से एक बड़े समाज और सभ्यता की नींव डालता है। यह औद्योगिक एवं बुद्धि-प्रधान सभ्यता है जहाँ प्रकृति के ऊपर विजय के गर्व से प्रजा की छाती फूल उठी है। पर अधिकार की प्यास इतने से भी तृप्त नहीं है। वह बढ़ती जाती है। मनु इड़ा पर भी ज़बर्दस्ती करता है या यों कहें कि मन बुद्धि-व्यभिचार करता है। परिणाम यह होता है कि उसी की प्रजा उसके विरुद्ध विद्रोह करती है। वह घायल और त्रस्त है। ऐसे समय भी श्रद्धा ही उसे बचाती है। उसे मृत्यु के मार्ग से खींच कर जीवन के मार्ग पर लाती है। पर मनु (मन) पश्चात्ताप से दग्ध है और फिर इड़ा और श्रद्धा सबसे भागता है। श्रद्धा उसे खोज लाती, उसका उद्धार करती है।

और उसके सहारे मनु अपनी जगत् के प्रति समवृत्ति और चिर आनंद की साधना में सिद्धि प्राप्त करते हैं तथा श्रद्धा के आदेश से मनु एवं श्रद्धा का पुत्र मानव इड़ा (बुद्धि) के सहयोग से मानवी समाज और सभ्यता का आरंभ करता है।

मानवता के विकास की दृष्टि से देखें तो उच्छृङ्खल, निर्वाध पुरुष का श्रद्धामयी नारी ने किस प्रकार सस्कार किया है इसका सुन्दर चित्र भी कामायनी में है। जंगली, शिकारी, स्वार्थ एवं पशुवृत्तियों से भरे हुए मनु (पुरुष) को श्रद्धा (नारी) किस तरह मानवी भावों से परिचित करती, किस तरह कुटुम्ब का आरभ होता, निजत्व की अनुभूति विकसित होती और काम-प्रवृत्ति संस्कृत होती है, इसकी कथा यहाँ हम पढ़ते हैं। यहाँ काम-प्रवृत्ति (Sex Impulse) हेय नहीं है, न निर्वाध है। वरन् उसे सेवा एवं लोक-कल्याण के विकास में एक अनिवार्य साधन का महत्व प्राप्त है। यहाँ सब प्रवृत्तियों के उचित उपयोग का संदेश है।

इस तरह हम यह भी देखते हैं कि 'प्रसाद' जी की नारी पुरुष को गिरानेवाली नहीं वरन् उसका उद्धार करनेवाली है। वह उसकी सत्प्रवृत्ति के समान उसे दुःखों, कष्टों के बीच से निकालती हुई आनन्द के शिखर तक पहुँचाती है। उसने पुरुष को कामप्रवृत्ति का ऐसा उपयोग सिखाया कि उसके रक्त की धारा जाति और संतति के रूप मे सदा जीवित रहे। यह मृत्यु पर मानवता की विजय थी। पर सभ्यता का यह स्रोत तभी तक चल सकता है जब तक मानव बुद्धि और श्रद्धा का समुचित सहयोग और संतुलन रखता

है। बुद्धि तो समाज के विकास का अनिवार्य साधन है पर उसके मूल में श्रद्धा की प्रेरणा होनी चाहिये। श्रद्धाहीन बुद्धिवाद का जो परिणाम होता है वह हम 'कामायनी' में देखते हैं और वैज्ञानिक सभ्यता की दुर्दशा के रूप में आज भी देख रहे हैं। जब तक निर्बाध अधिकार और भोग की उच्छृङ्खल लालसा है तब तक सभ्यता को शुद्ध वैज्ञानिक रूप प्राप्त नहीं हुआ। तब तक मानव बुद्धि-विलास से भ्रमित है। अपने में ही भूला हुआ। श्रद्धा को छोड़ कर वह बुद्धि पर संयम और नियन्त्रण नहीं रख सकता। क्योंकि असीम संकटों के बीच मनुष्य को जीवित रखनेवाली, उसे उत्साहित करनेवाली चीज़ श्रद्धा ही है। जब मनु थक जाते हैं तब भी श्रद्धा की प्रेरणा से आगे बढ़ते जाते हैं और अन्त में उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ समत्व के अनुभव से उनकी बुद्धि स्थिर और वृत्तियाँ चिर-आनन्दमयी हैं। इस तरह हम देखते हैं कि 'कामायनी' में सम्पूर्ण मानवता का चित्र है। वह मनुष्य की सम्पूर्णता की साधना के प्रकाश से प्रकाशित है। उसमें मानवी सृष्टि का आरम्भ, उसका विकास और उसकी चरम सिद्धि की झलक है। उसमें यह संकेत है कि मानवता का शुद्ध रूप क्या है; किस तरह वह कल्याणकारी हो सकती है। उसमें वास्तविकता से पलायन नहीं है वरन् उसी वास्तविकता के उचित उपयोग और उसके रस से पुष्ट होकर उसका संस्कार करने का संदेश है। चाहे जिस दृष्टि से देखें 'कामायनी' में न केवल महत्ता वरन् प्रतिपग पर सतुलन भी है। और यह उसकी महत्ता का श्रेष्ठ प्रमाण है। इसकी कथा, इसकी पृष्ठ भूमि, इसकी उठान, इसका दृष्टिकोण कुछ ऐसा महान् और

असाधारण है कि पाठक आश्चर्य से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

वस्तुतः जैसा हिन्दी के विचारवान आलोचक श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी ने कहीं लिखा है—शताब्दियों के पश्चात् मानस का ऐसा सुन्दर चित्र हमें देखने को मिला है। यहाँ मानवता का कल्याणकारी आदर्श कल्पना की जगह बुद्धि की नींव पर खड़ा किया गया है और उस नींव में श्रद्धा का रस है। श्रद्धा और बुद्धि से सतुलित जीवन की मंगल दृष्टि 'कामायनी' की हमारे युग की अव्यवस्थित मानवता क बहुत बड़ी देन है।

———

[११]

'कामायनी' की दार्शनिक पृष्ठभूमि

'कामायनी' काव्य कवि की एक विशेष बौद्धिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि पर खड़ा है। इसमें मानव जीवन की वास्तविकता को स्वीकार किया गया है और उस वास्तविकता से ही सारी समस्याओं का हल खोजने की कोशिश की गई है। इसमें नर है, नारी है, व्यक्ति और समाज के बीच का संघर्ष है; इसमें सभ्यता के विभिन्न पहलुओं के चित्र हैं। कवि के लिए इनमें कोई निरर्थक नहीं है। सब का औचित्य है। जो कुछ संघर्ष है या दिखाई पड़ता है वह चीज़ों के उपयुक्त स्थान पर न होने के कारण है। यदि प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर हो तो यह विश्व की महाक्रीड़ा बड़ी सुंदर और आनंदमयी हो जाय। सारा दुःख दैन्य इसलिए है कि हम वस्तुओं के प्रति संतुलित एवं सम-दृष्टि नहीं रख पाते हैं। हम चीज़ों को तिरछी निगाह से और रंगीन रूपों में देखने के आदी हैं। यदि इसमें समत्व की सच्ची दृष्टि हो तो हमें दुनिया से, भावनाओं के आवेश में, न भागने की ज़रूरत है, न चिपटने की ज़रूरत है। विश्व में जो विकार हैं, वे हमारे दृष्टि-दोष, हमारी विकृत भावना और अस्वस्थ मन के आभास या प्रतिबिम्ब हैं। ज्यों-ज्यों मन श्रद्धा-नियोजित और प्रकृतिस्थ बुद्धि के कारण स्वस्थ होता है, मानव अपनी आनंद की साधना में सफल होता जाता है और संसार का संघर्ष मिटता जाता है।

'कामायनी' के कवि 'प्रसाद' जी ने जीवन-भर साहित्य में यही स्वस्थ, संतुलित मनोवृत्ति पैदा करने का प्रयत्न किया। उनके निजी जीवन में तो यह साधना बहुत ऊँची अवस्था तक पहुँच गई थी। उनके विचार से बाह्य त्याग और संकोच उतना ही अस्वस्थता-सूचक है जितना उत्तेजन या उपभोग है। उनकी स्वस्थ वस्तुस्थिति इन दोनों से भिन्न वस्तु के चिन्मय स्वरूप के दर्शन में है।

वस्तुतः जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि पर 'कामायनी' का चित्रण हुआ है वह अत्यन्त विशाल है। यह समग्र सृष्टि या जीवन की विराट् धारणा पर आश्रित है। इसमें सुख-दुःख, छाया-प्रकाश सब महाचित्र के आवश्यक रंगों के रूप में उपयोगी हैं। यहाँ सारी सृष्टि आत्ममयी है और चित् शक्ति से प्रफुल्लित है। कामायनी के अंतिम तीन सर्गों में कवि ने मानव और विराट प्रकृति के बीच इसी सामञ्जस्य का सदेश दिया है। विराट् प्रकृति के नृत्य में मनुष्य का सम पड़ना चाहिए, बस उसकी सारी साधना पूर्ण हो जाती है और वह चिन्मय आनंद में तन्मय हो जाता है। निस्संगता इस साधना का एक प्रधान अंग है।

पर यह निस्सगता गीता की निस्सगता-मात्र नहीं है। 'कामायनी' और उसके कवि का जीवन वस्तुतः शुद्ध शैव तत्त्वज्ञान पर खड़ा है। प्राचीन वेदान्त में इस शैव तत्वज्ञान के बीज हमें मिलते हैं। इस तत्वज्ञान के अनुसार संपूर्ण सृष्टि आनंदमयी है। आनंद से ही सृष्टि की उत्पत्ति है, आनद में ही उसकी स्थिति है और आनंद में

ही उसका समाहार है।* शिव के ताण्डव नृत्य में इसी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय की अभिव्यक्ति है।

विश्वात्मा में चिर-मंगल का जो तत्व है, वही शिव है। इसे यों भी कह सकते हैं कि शिव ही एकमात्र प्रेम या आनंद का तत्व है। शक्ति इस आनद का स्फुरण है। शिव और शक्ति समुद्र और लहरों के समान एक हैं। शिव आनंद और शक्ति प्रकृति के रूप में व्यक्त है। जैसे शक्ति शिवमय हैं; वैसे ही प्रकृति भी आनदमय है। पुराणों में शिव को हलाहल पान कर जानेवाला कहा गया है। इस हलाहल से सारी सृष्टि भीत थी पर शिव ने निरुद्वेग होकर शांति के साथ उसे पीलिया और उसका कुछ भी प्रभाव उन पर नहीं हुआ। इसका भी अर्थ यही है कि इस चिर आनंद म मिलकर विष भी अपने विषत्व को खो देता है। यह अमृत की विष पर विजय है; यह आनंद की दुःख पर विजय है। ज्यों-ज्यों मानव इस शिवतत्व की

---

*उपनिषद् में कहा है—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।"

अर्थात् "आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जाना। क्योंकि आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होने पर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं।"

—तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, षष्ठ अनुवाक

उपलब्धि करता है, उसका सब दुःख-दैन्य मिटता जाता है और उसे चिरमगल और नित्य आनंद की अनुभूति होती जाती है।

इसी शिव की, इसी आनद की उपलब्धि मानव का लक्ष्य है। कामायनी ने इसी लक्ष्य को हमारे सामने स्पष्ट किया है। उसका नायक मनु अपनी अनेक उलझनों से युद्ध करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वह गिरता है, उठता है, फिर गिरता और फिर उठता है। पर जब तक इस लोक-मगल के तत्व की अनुभूति और उपलब्धि नहीं होती वह अशात और असंतुष्ट है। उसकी जीवन-यात्रा जारी है और इस यात्रा की आनद में समाप्ति हुई है। यहाँ आकर जीवन का सारा क्षोभ शात हो जाता है, जैसे नदी का वेग समुद्र में उसके मिलने पर शात हो जाता है क्योंकि समुद्र में समत्व है। मानव भी इस समत्व की अवस्था पर पहुँच कर जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करता है। यह समत्व की स्थिति शून्य की स्थिति नहीं है। समुद्र चिर तरगमय है। उसी तरह यह समत्व की स्थिति भी चिर चेतनामय है। इस चेतना में शक्ति की तरगे हैं और आनन्द ही आनन्द है। जैसे श्वेत रग में सब रंगों का समाहार है वैसे ही शिव में सब द्वन्द्वों का समाहार है। यह जो भेद-बुद्धि है उसे दूर कर अभेद की साधना से ही मंगल तत्व की उपलब्धि होती है। भेद-बुद्धि ही विष और मृत्यु है। इस भेद-बुद्धि के विजेता शिव विष-पान करके भी निश्चित और मृत्युञ्जय हैं। जब तक यह भेद है तभी तक विष विष है अथवा तभी तक विष की स्थिति है। कठोपनिषद् में ऋषि कहते हैं—

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति।"

अर्थात् 'भेद को सत्य माननेवाला मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार मरता है।' यह भेद-बुद्धि ही शिव या लोक-मंगल के नित्यानद की उपलब्धि में बाधा है। 'कामायनी' का कवि हमें इसी शिव-तत्व की ओर बराबर अग्रसर करता है।

इस आनन्द की यात्रा में श्रद्धा मनु या मानव की पथ-प्रदर्शिका है। उसी की प्रेरणा से मानव अपनी साधना के मार्ग में बढ़ता जाता है। ठोकरें खाकर परिष्कृत एवं शुद्ध हुई इड़ा (बुद्धि) लोक-कल्याण की साधना में मानव की सहायक है।

कामायनी के मूल में चिर-आनंद की साधना का यही तत्वज्ञान है। यह तत्वज्ञान शुद्ध बुद्धि के आधार पर पुष्ट हुआ है। जिन्हें सामान्य अर्थ में आज बुद्धिवादी तथा वस्तुवादी कहते हैं, उनका सारा आधार विकृत बुद्धिवाद या वस्तुवाद को लेकर है। इस बुद्धिवाद या वस्तुवाद ने चेतनता के टुकड़े कर दिये हैं। इसीलिए जगत् के दुःख की समस्या हल नहीं हो पाती है। ऐसी विकृत बुद्धि (इड़ा) को लक्ष्य करके ही श्रद्धा के मुख से कवि ने कहलाया है—
"तू सिर पर चढ़ी रही; तूने हृदय न पाया; चेतन का सुखद अपनापन खो गया। सब अपने-अपने रास्ते चलने लगे और प्रत्येक वर्ग भ्रमित हुआ। जीवन-धारा तो एक सुंदर प्रवाह है। ऐ तर्कमयी! तू प्रतिबिम्बित ताराओं को पकड़-पकड़ उसकी लहरें गिनती रही।... तूने सीधा रास्ता छोड़ दिया। तूने चेतनता के भौतिक टुकड़े करके जग को बाँट दिया जिससे विराग फैला।... यह नित्य जगत् चिति

का स्वरूप है; यह सैकड़ों रूप बदलता है। इसके कण विरह-मिलन के नृत्य में लीन हैं और इसमें सतत उल्लास-पूर्ण आनन्द है। इससे एक ही राग झंकृत हो रहा है—"जाग ! जाग !"

दूसरी जगह श्रद्धा मनु से कहती है—"···देव-द्वंद्व का प्रतीक मानव अपनी सब भूलें ठीक कर ले। यह जो महाविषमता का विष फैला है, वह अपनी कर्म की उन्नति से सम हो जाय; सब मुक्त बनें; सबके भ्रम कट जायँ; शुभ सयम ही उनका रहस्य हो। जो असत् है वह गिर जायगा।"

इस ज्ञानालोक की सहायता से मनु घोर अंधकार में देखते हैं—शून्य मेदिनी चित् शक्ति के अन्तर्निनाद से पूर्ण है। दिशाकाल लुप्त हैं। इस विराट् दर्शन का तेरहवें अध्याय मे ऐसा पूर्ण चित्र है कि पढ़ते-पढ़ते मन मुग्ध हो जाता है। देखिए :—

सत्ता का स्पंदन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रंथि खोल;

तम जलनिधि का बन मधु मंथन,
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन;
वह रजत गौर उज्ज्वल जीवन,
आलोक पुरुष ! मंगल चेतन !

केवल प्रकाश का था किलोल,
मधु किरनों की थी लहर लोल।

× ×

बन गया तमस था अलक जाल
सर्वांग ज्योतिमय था विशाल;
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्यभेदिनी सत्ता चित्;
नटराज स्वयं थे नृत्य निरत,
था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित;
स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशा काल।

× ×

लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभापुंज चितिमय प्रसाद;
आनंदपूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल श्रम-सीकर;
बनते तारा, हिमकर, दिनकर,
उड़ रहे धूलिकण से भूधर;
संहार सृजन से युगल पाद—
गतिशील, अनाहत हुआ नाद।

× ×

बिखरे असंख्य ब्रह्माण्ड गोल,
युग त्याग ग्रहण कर रहे तोल;
विद्युत् कटाक्ष चल गया जिधर,
कंपित संसृति बन रही उधर;

चेतन परमाणु अनन्त बिखर,
बनते विलीन होते क्षण भर;
यह विश्व झूलता महा दोल,
परिवर्तन का पट रहा खोल।

× ×

उस शक्ति शरीरी का प्रकाश,
सब शाप पाप का कर विनाश—
नर्तन में निरत, प्रकृति गलकर
उस कान्ति सिंधु में घुल मिलकर;
अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
कमनीय बना था भीषणतर;
हीरक गिरि पर विद्युत विलास,
उल्लसित महा हिम धवल हास।

इसी आनन्दमय विराट चेतनता की साधना मनुष्य मात्र का लक्ष्य है। इसमें इड़ा (बुद्धि) और कामायनी (श्रद्धा) सहायक और प्रेरक हैं। इस साधना में बाधा इसलिए है कि मानव ने बुद्धि-भेद के कारण चेतनता के टुकड़े कर दिये हैं; ये ज्ञान-खंड असत्य-से हैं। शिव अथवा मंगल के परम तत्व मे इनका लोप होने से ही विराट चेतनता का जन्म होता है। मनु यह अनुभव करके ही श्रद्धा से कहते हैं—

"यह क्या श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल;
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखंड आनन्द वेश!"

भेद-बुद्धि के कारण चेतनता के टुकड़े-टुकड़े करके मानवता

भ्रमित हो रही है। कवि ने त्रिपुर का दर्शन कराया है। इसे उसने कर्मभूमि, भावभूमि और ज्ञान-भूमि के नाम से पुकारा है। ये क्रमशः भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जगत् के द्योतक हैं। तीनों अलग-अलग अपूर्ण और भ्रमित हैं। उनमें अशांति है। इस त्रैत या त्रिगुण को ही पुराणों में त्रिपुर का रूप दिया गया है जिससे सृष्टि-मात्र पीड़ित है। शिव इसी त्रिपुर का वध करके सृष्टि की रक्षा करते हैं। मतलब त्रैत की यह भेद-बुद्धि ही संसार के दुःख का कारण है और इन तीनों का सामञ्जस्य, तीनों का समत्व ही आनन्द का साधन है। 'कामायनी' में कवि ने श्रद्धा के द्वारा तीनों को एकत्र कराया है जो मनोवैज्ञानिक एवं बौद्धिक दृष्टि से अधिक सुबोध है।

इस प्रकार 'कामायनी' के मूल में जो आध्यात्मिक तत्व है वह शैव तत्वज्ञान के आनन्द-तत्त्व के ऊपर खड़ा है। इस तत्वज्ञान की विवेचना कवि की स्वतंत्र विवेचना है। उसमें उसकी मौलिक खोज है। इस पर बौद्ध तत्त्वज्ञान की भी छाया है। शुद्ध निर्लेप चेतनता और आनन्द की प्राप्ति ही मानव का चरम लक्ष्य है। समाज-निर्माण और लोक-कल्याण इस लक्ष्य की सिद्धि के बीच की मंजिलों के रूप में आते हैं। व्यक्ति और समाज में अविरोधी चेतनता का भाव रख कर ही सच्ची उन्नति सम्भव है। इस उन्नति में बुद्धि का अनिवार्य महत्व है पर बुद्धि की शुद्धि श्रद्धा द्वारा सदैव होती रहनी चाहिए। अनियंत्रित बुद्धि प्रमाद में परिवर्तित होकर परस्पर प्रतियोगिता और विनाश का कारण होती है। संस्कृत बुद्धि परस्पर सामञ्जस्य और सुख का कारण होती है। इस प्रकार श्रद्धा द्वारा भेद बुद्धि के सस्कार से शुद्ध चेतनता और आनन्द की साधना ही चरम लक्ष्य है और इसी का सुबोध एवं कलापूर्ण संदेश 'कामायनी' के कवि ने हमें दिया है। यह संदेश आनन्द और शक्ति यानी पौरुष से पूर्ण है। उसमें निष्क्रियता नहीं, चिरचेतना और कर्मण्यता है।

[१२]

'कामायनी' का काव्य-सौंदर्य

महाकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह जगत् को एक स्थायी संदेश दे और उसमें हम कला का चिन्मय स्वरूप देख सकें। इन दोनों दृष्टियों से 'कामायनी' को संसार के श्रेष्ठ काव्यों के बीच रखा जा सकता है। यह न केवल हमें एक स्थायी संदेश देता है वरन् जगत् के प्रति एक नवीन दृष्टि भी देता है। इस अंधकार में, जिसके अंदर मानवता भटक रही है, एक प्रकाश-पुंज की भाँति हमारे मानस-क्षितिज पर वह आया है।

इसमें विविधता है पर उस विविधता में एकता भी है। इसमें भाषा का गाभीर्य, शैली का परिमार्जन, छन्दों की विविधता, अलकारों का सुंदर उपयोग और रस तथा ध्वनि की पुष्टि एवं अभिव्यक्ति है। न केवल काव्य की आत्मा का तेज इसमें है वरन् काव्य-शरीर का ओज, सौष्ठव एवं सौंदर्य भी इसमें है। भाव और भापा दोनों का सुंदर सामंजस्य 'कामायनी' में हुआ है। इसकी आत्मा का किंचित् परिचय हम पहले दे चुके हैं। यहाँ काव्य के बाह्य सौंदर्य की दृष्टि से इस पर थोड़े में विचार करते हैं।

"कामायनी' में पहाड़, नदी, प्रभात, संध्या इत्यादि के बहुत सुन्दर चित्र हैं। इसमें रूप, सौंदर्य के भी बड़े मनोरम चित्र दिखाई पड़ते हैं। सुन्दर उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं से काव्य भरा

पड़ा है। पर ये अलंकार काव्य पर बोझ नहीं हैं; वे काव्य की कमनीयता को बढ़ाते हैं। देखिए—

अलंकार:

माधवी निशा की अलसाई,
अलकों में लुकते तारा-सी;
क्या हो सूने मरु अंचल में
अंतः सलिला की धारा सी।

... ...

उठती है किरनों के ऊपर
कोमल किसलय की छाजन सी,
स्वर का मधु निस्वन रंध्रों में
जैसे कुछ दूर बजे बंसी।

... ...

कामना की किरन का जिसमें मिला हो ओज,
कौन हो तुम, इसी भूले हृदय की चिर खोज!

... ...

कौन हो तुम विश्व माया कुहक-सी साकार,
प्राण सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार!

लज्जा वाला पूरा सर्ग सौन्दर्य के मृदुल चित्रों से भरा है। लज्जा अपना परिचय देती हुई कहती है—

अम्बरचुम्बी हिम श्रृंगों से, कलरव कोलाहल साथ लिये,
विद्युत् की प्राणमयी धारा बहती जिसमें उन्माद लिये।

X X

जो गूँज उठे फिर नस-नस में मूर्च्छना समान मचलता सा
आँखों के साँचे में आकर रमणीय रूप बन ढलता सा
नयनों की नीलम की घाटी जिस रस घन से छा जाती हो
वह कौंध कि जिससे अन्तर की शीतलता ठंडक पाती हो।

× × ×

फूलों की कोमल पंखड़ियाँ, बिखरें जिसके अभिनन्दन में,
मकरन्द मिलाती हो अपना, स्वागत के कुंकुम चंदन में।

... ...

उज्ज्वल वरदान चेतना का, सौंदर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के, सपने सब जगते रहते हैं।

... ...

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, मैं शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता पग में, नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।

... ...

चंचल किशोर सुन्दरता की, मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हलकी सी मसलन हूँ, जो बनती कानों की लाली।"

भाषा:—

'कामायनी' की भाषा भी विषय के अनुकूल है। जहाँ गभीर भाव हैं वहाँ भाषा में गंभीरता है। जहाँ कोमल भाव है तहाँ भाषा मृदुल और रसमयी हो गई है। कहीं-कहीं तो शब्द-रचना बड़ी सरल एवं प्रसाद गुण-पूर्ण है।

मैं क्या दे सकती तुम्हे मोल,
यह हृदय! अरे दो मधुर बोल;

मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ,
मैं पाती हूँ खो देती हूँ,
इससे ले उसको देती हूँ,
मैं दुख को सुख कर लेती हूँ।

अनुराग भरी हूँ मधुर घोल,
चिर विस्मृति सी हूँ रही डोल।

श्रद्धा का यह गीत सुनिए; इसकी भाषा में कितनी मधुरता एवं रस है—

माधुर्यः—

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन!
विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल,
चेतना थक सी रही तब,
मैं मलय की वात रे मन!

... ...

चिर विषाद विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर वन की,
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा,
कुसुम विकसित प्रात रे मन!

... ...

जहाँ मरु ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती
उन्हीं जीवन घाटियों की,
मैं सरस बरसात रे मन!

... ...

पवन की प्राचीर में रुक,
जला जीवन जी रहा झुक,
इस झुलसते विश्व दिन की
मैं कुसुम ऋतु रात रे मन!

... ...

चिर निराशा नीरधर से,
प्रतिच्छायित अश्रु सर में
मधुप मुखर मरंद मुकुलित
मै सजल जलजात रे मन!

'कामायनी' में सौंदर्य, भाव, माधुर्य का ऐसा सुन्दर समन्वय है कि पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। पहले के कई अध्यायों में हम उसकी सुन्दर कविताओं का परिचय दे चुके हैं। इसलिए पुनरुक्तियों के द्वारा पुस्तक का कलेवर बढ़ाना उचित न होगा। सम्पूर्ण 'कामायनी' के काव्य-सौंदर्य का दर्शन कराने के लिए एक अलग पुस्तक चाहिए।

यों तो 'कामायनी' में खोज करने से दोष भी निकाले जा सकते हैं। इसका एक दोष तो यह है कि आरम्भ में इसकी कथा बहुत धीरे-

धीरे चलती है। उसमें गति (tempo) की बड़ी कमी है। छंदों में तो गति है पर कथा में गति नहीं है। उत्तरार्द्ध में यह गति एकाएक बहुत बढ़ जाती है।

कहीं-कहीं चिन्त्य प्रयोग भी हैं। व्याकरण की भी कुछ भूलें दिखाई पड़ती हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

अरे अमरता के चमकीले
पुतलो! तेरे वे जयनाद। (पृष्ठ ७)

यहाँ 'तेरे' अशुद्ध है। बहुवचन 'पुतलो' के साथ यह प्रयोग दूषित है।

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से—
आती चूम-चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से। (पृष्ठ ३९)

अन्तिम पद अस्पष्ट है। 'कौन सा टोना पढ़ी हुई' अर्थ इससे स्पष्ट नहीं होता।

तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अँधेर। (पृष्ठ ३६)

'अँधेर' स्त्री लिंग नहीं, पुल्लिंग है अतः 'जावेगा' होना चाहिए।

पटें सागर बिखरें ग्रहपुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण। (पृष्ठ ४८)

'ज्वालामुखी' का बहुवचन 'ज्वालामुखियाँ' ठीक नहीं मालूम पड़ता।

शृंग डाल दिया, फिर धनु को भी,
मनु बैठ गये शिथिलित शरीर। (पृ० १४१)

'शिथिलित' की जगह 'शिथिल' ही पर्याप्त और अधिक शुद्ध था।

श्रद्धे ! तुमको कुछ कमी नहीं,
पर मैं तो देख रहा अभाव। (पृ० १४९)

... ...

यों कहकर श्रद्धा हाथ पकड़,
मनु को ले चली वहीं अधीर। (पृ० १४९)

झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर (पृ ० १५७)

उपर्युक्त उद्धरणों में प्रवाह शिथिल है।

पृष्ठ १११—११२ क्रमशः 'किलात' के स्थान पर आकुलि और 'आकुलि' के स्थान पर 'किलात' चाहिए।

इस तरह की थोड़ी-सी गलतियाँ और भी हैं। पर इतने बड़े काव्य में वे नगण्य हैं।

सब मिला कर हम यह कह सकते हैं कि 'कामायनी' क्या आदर्श, क्या सत्य के बोध, क्या भाव और भाषा, क्या काव्य-सौंदर्य सब दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ काव्य है। इसने हिन्दी को मानवता की एक उदात्त कल्पना दी है और हमारे सामने कला का चिरंतन सन्देश अत्यंत मानवीय एवं श्रेष्ठ रूप में रखा है। 'कामायनी' गंभीर अध्ययन और विचार का काव्य है। और यह आशा की जानी चाहिए कि इससे हिन्दी का काव्याधार पुष्ट; विकसित और प्रकाशित होगा।

जीवन-समीक्षा खण्ड

[१३]

कवि 'प्रसाद' की साहित्य-साधना का चेतनाधार

कवि 'प्रसाद' 'आधुनिक हिन्दी कविता के पिता' कहे जाते हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हमारे यहाँ जो अनैसर्गिक काव्य-व्यापार चल रहा था उसने हमारे साहित्य के आधार को बिल्कुल खोखला और अवास्तविक कर दिया था। एक ओर रीतिकाल के काव्य के ध्वंसावशेष के रूप में विकृत वासना-रजन बच गया था और दूसरी तरफ उसके विरोध और प्रतिक्रिया-स्वरूप आदर्श तो नहीं पर नकली एवं असत् आदर्श—Pseudo-Idealism—की एक आँधी चल पड़ी थी। काव्य की आत्मा गतानुगतिकता और प्रतिक्रिया के इस द्वन्द्व में पड़ी छटपटा रही थी। साहित्य के प्रति सारा दृष्टिकोण धुँधला हो रहा था और उसकी मानसिक पृष्ठभूमि अप्राकृतिक एवं अस्वास्थ्यकर भावों से अनुरंजित थी। साहित्य जीवन से अलग हो गया था और जल की सदा बहती हुई धारा से अलग हो जानेवाले छोटे जलाशय की भाँति उसमें सड़ान पैदा हो रही थी। साहित्य की आत्मा का पक्षी जंजीरों में बँधा तड़प रहा था। ऐसे ही समय कवि 'प्रसाद' ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया; उन्होंने बन्धनों को काट दिया; पक्षी के उड़ने का दायरा बहुत विस्तृत हो गया। हमारी गलियों में ताजी हवा के झोंके आये और वह मूर्च्छना जिसने हमको न केवल वन्दी कर रक्खा था वरन् जिसके हाथ वन्दी होने में हम एक प्रकार की उन्मत्तता का अनुभव कर रहे थे, छिन्न-भिन्न होगई। जागरण का एक संदेश आया और नवयुग की झाँकी हमें दिखाई दी।

यों 'प्रसाद' जी ने हमारे साहित्य की मूर्च्छना को दूर कर उसे जगाया और हिन्दी काव्य को सस्ती भावुकता के भँवर में पड़कर डूबने से बचा कर एक दृढ़, स्वस्थ और सन्तुलित मानसिक पृष्ठभूमि पर उसे स्थापित किया। हिन्दी में शृङ्गार को वास्तविक, स्वस्थ और परिष्कृत रूप देने का श्रेय 'प्रसाद' जी को ही दिया जा सकता है। उनके पहले या तो शृङ्गार के नाम पर नारी-शरीर का अत्यन्त स्थूल और उत्तेजक वर्णन बच रहा था, या फिर शृङ्गार के एकदम वहिष्कार का स्वर वातावरण में गूँज रहा था। वस्तुतः ये दोनों दृष्टियाँ अप्राकृतिक थीं और जीवन की दो मिथ्या प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करती थीं। इन दोनों दृष्टियों के आधार पर न तो कोई स्थायी और स्वस्थ समाज- रचना ही की जा सकती है, और न साहित्य या मनुष्य की सामूहिक पर संस्कृत अनुभूतियों को ही कल्याणकारी रूप प्रदान किया जा सकता है। मानव-समाज का निर्माण ही शृंगार की प्रेरक भावना को लेकर है। उसे मिटाया या हटाया नहीं जा सकता। हटाने से उसकी भीषण प्रतिक्रिया होती है। इसे हम जीवन में भी और इतिहास में भी देख चुके हैं। इसलिए सच्चा कलाविद् साहित्यकार शृंगार के परिष्कार का प्रयत्न करता है और उसमें एक गहराई और बारीकी लाने का प्रयत्न करता है—उसे श्रेष्ठतर और कल्याणकारी रूप देता है और यों विकृत होने पर जो चीज़ विष हो जाती है अथवा बिल्कुल अलग हो जाने पर जिससे जीवन रुक्ष और अमर्यादित हो जाता है उसे एक स्वस्थ और दृढ़ वास्तविक आधार पर श्रेष्ठ कवि या कलाकार स्थापित करता है। कवि 'प्रसाद'

ने हमारे साहित्य के पतन के युग में पहली बार यह स्वास्थ्यकर सदेश हमें दिया। उन्होंने पहली बार विकृत शृंगार के प्रति विद्रोह किया और शृंगार के एक स्वास्थ्यकर और व्यापक रूप का परिचय हमे कराया।

'प्रसाद' जी मानवता के लिए स्वास्थ्यकर साहित्यिक पृष्ठभूमि की रचना में आरम्भ से ही सचेष्ट हुए। पर आरम्भ में उन्होंने इसके लिए प्राकृतिक उपादान चुने; कदाचित् उन्हें भय था कि आरम्भ मे ही मानवीय रूप देने, मानवीय शृंगार को लेने से शृंगार को ठीक-ठीक समझने में लोगों की उलझन और बढ़ जायगी। इसलिए चाँदनी मे, फूलों में, नदियो में, चाँद और ताराओं में, झरनों और पर्वतों में हम उनके इस मानवीय आधार को पनपते और व्यक्त होता देखते हैं। इनमें कवि सनातन पुरुष की विराट् प्रकृति-नारी का सौंदर्य देखता है। यहाँ मानवी शृंगार को स्वस्थ दृष्टिकोण से देखने की कला धीरे-धीरे विकसित और शिक्षित—trained—हुई है। प्रकृति के इन उपादानों को लेने में कदाचित् कवि का यह भी अर्थ रहा होगा कि वह मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य, एकरूपता स्थापित करे। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि कवि के काव्य में प्रकृति का मानव-सापेक्ष्य रूप ही अधिकतर व्यक्त हुआ है। इस प्रकार प्रकृति और मानव के बीच एक सामजस्य स्थापित किया गया है।

ज्यों-ज्यों कवि का विकास हुआ है मध्य पथ में उसकी आस्था बढ़ती गई है और यह आस्था बुद्धि, विवेक और अनुभव से पुष्ट होती गई है।

उनकी रचनाओं में हम इसका उत्तरोत्तर परिष्कार और विकास देखते हैं आरम्भ में उनका काव्य प्रकृति के रहस्यों के प्रति कौतूहल से भरा हुआ है। वह आगे बढ़ते हैं और यह कौतूहल कुछ और दृढ़ होता है; वह जिज्ञासा में बदल जाता है। यह जिज्ञासा उनके काव्य के मूल में सर्वत्र है। इसी जिज्ञासा के कारण सृष्टि के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। उस प्रीति के सिलसिले में सौन्दर्य-बोध और फिर समष्टि के कल्याण की दृढ़ चेतना का विकास होता है। उनके अन्तिम काव्य—'कामायनी'—में इस चेतना का बड़ा ही सुन्दर और विशाल रूप दिखाई देता है।

यदि हम विचार करें तो मालूम होगा कि प्रत्येक मानव के जीवन में विकास का यही क्रम है। शैशव में कुतूहल, फिर बालपन में जिज्ञासा, फिर किशोरावस्था में प्रीति और अनुरक्ति, बाद में यौवन में सौन्दर्य-बोध और सबके पीछे प्रौढ़वय में कल्याणकारी चेतना आती है। विकास का यह क्रम केवल व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है वरन् मानव-समाज और सभ्यता के विकास का भी यही क्रम है। कुतूहल और जिज्ञासा समाज और सभ्यता के मूल में है। उन्हीं के कारण सभ्यता का आरम्भ होता है और प्रत्येक अनुभव के साथ वह परिष्कृत और पुष्ट होती तथा बीच की श्रेणियों को पार करती हुई शुद्ध सौन्दर्य-बोध और कल्याणी चेतना के दर्जे तक पहुँचती है। सारी सृष्टि इसी क्रम से विकसित और पुष्ट होती है। इसलिए सभ्यता, संस्कृति और साहित्य की सच्ची आधारशिला शुद्ध सौंदर्य-बोधात्मक चेतना ही हो सकती है। जब काव्य और साहित्य, सभ्यता

और संस्कृति के इस शुद्ध रूप को प्रकट करते हैं तभी वे अपनी महिमा से आदृत और कल्याणकर हो सकते हैं। यही साहित्य का चेतन स्वरूप है। हमारी सम्पूर्ण सभ्यता, संस्कृति और प्राचीन साहित्य इसी महान् प्रवृत्ति से प्रकाशित है। सभ्यता के पतन के साथ-साथ इस दृष्टिकोण का लोप होता गया, या यों कहना ज्यादा उचित होगा कि यह दृष्टिकोण ज्यों-ज्यों धुँधला होता गया त्यों-त्यो हम गिरते गये। पिछले काल का संस्कृत साहित्य इस आधार-शिला से हटकर केवल अनर्गल शब्द-जाल में फँस गया है और उसका सौंदर्य-बोध किसी दृढ एवं स्वस्थ मानवी चेतना में विकसित न होकर केवल शब्दों की जादूगरी तक ही बँधकर रह गया है। मध्ययुग के सन्तों ने चेतना के इस संकुचित और अस्वास्थ्यकर रूप के प्रति विद्रोह किया था और संस्कृति का व्यापक समन्वयात्मक दृष्टिकोण स्थापित करने का प्रबल यत्न किया था। इसीलिए उस काल के हिन्दी साहित्य में हम कल्याणी कला के कुछ सर्वोत्तम नमूने देखते हैं। पर बाद में यह प्रयत्न भी, राजनैतिक एवं सामाजिक प्रतिकूलताओं के कारण शिथिल हो गया और उत्तर-काल की हिन्दी कविता शब्द-विन्यास मात्र रह गई और उसमें हम केवल कवियों की 'जिमनास्टिक' का ही आनन्द ले सकते हैं। शुद्ध सौंदर्य-बोध एव रस की, इसीलिए, उसमें बड़ी कमी है। और यही कारण है कि वह उत्तरोत्तर जीवन की प्रेरणा का रूप त्याग कर और समाज को परिष्कृत करने एव उसे दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करने का 'मिशन' छोड़कर विकृत मनोविनोद और राजदरबारी कार्य-क्रम का एक अंग

मात्र हो गई। इन राजदरबारों के संसर्ग और वातावरण से दिन-दिन उसमें विकृत शृङ्गारिकता और रस-हीनता आती गई और उसका यहाँ तक पतन हुआ कि कविता के ही प्रति समाज में एक ज़बर्दस्त प्रतिक्रिया पैदा हो गई और वह सदाचार से गिरानेवाली चीज़ समझी जाने लगी।

इस अँधेरी खाईं से निकाल कर काव्य को उसके स्वरूप में लाना और जीवन की उच्च भूमिका पर उसे प्रतिष्ठित करना एक असाधारण काम था। एक ओर प्रतिक्रिया, दूसरी ओर गतानुगतिकता इस कार्य में बाधक थी। इनके बीच से मार्ग बना लेना एक महान् शक्ति और साधनावाले कलाकार से ही संभव था। बंगाल में रवीन्द्रनाथ ने इसका आरम्भ किया पर बाद में वह भी दिन-दिन रहस्यमय और दार्शनिक होते गये। आधुनिक सभ्यता की प्रखर दोपहरी में, शिथिल-मानस एवं श्रान्त लोगों ने इस रहस्यमयता में एक अस्पष्ट शीतलता और आनन्द पाया पर यह आनन्द जीवन की दृढ़ भूमिका से सम्बन्धित न था। उसकी कोई बौद्धिक धारणा न थी। इसलिए वह भी बाद में शिथिल होती गई। पर इतना अवश्य हुआ कि रवीन्द्रनाथ ने बंगाल की शिथिल चेतना को एक धक्का दिया और साहित्य के परिष्कार एवं स्वस्थ चेतना के विकास में सहायक हुए। उन्होंने बँगला-साहित्य की रुद्ध आत्मा को मुक्त कर दिया। वह मुक्ति के उल्लास से भरी हुई उठी और बंगाल के जीवन पर छा गई।

जो कार्य रवीन्द्रनाथ ने बंगाल में किया वही 'प्रसाद' जी ने हिन्दी में किया। पर 'प्रसाद' जी आरम्भ में इतने लोक-प्रिय न

हो सके। इसका एक कारण यह था कि उनके पास अपने 'मिशन' के प्रचार के साधन उतने न थे; दूसरी बात यह कि रवि बाबू ने जब कलाकार के साथ मिशनरी का भी रूप धारण किया, 'प्रसाद' जी केवल कलाकार ही रहे। 'प्रसाद' जी की चेतना का आधार अधिक स्पष्ट एवं बौद्धिक था और वह कलाकार का जगत् के बाज़ार में जाना उचित न समझते थे। चूँकि उनकी कला रहस्यों से उलझी न थी और उनके सिद्धान्तों के पीछे उद्वेग की गति न थी, इसलिए जनता उनकी ओर आकर्षित न हो सकी। संसार के संघर्षों से आलोड़ित औसत दर्जे के लोग जीवन के सत्य की अपेक्षा जीवन से पलायन—escape—या क्षण भर उससे अलग हो जाने की रहस्यमयता से अधिक आकर्षित होते हैं। प्रसाद जी के पास ऐसा कुछ न था, इसलिए रवीन्द्रनाथ को जैसे पाठक मिले वैसे उन्हें नहीं प्राप्त हुए।

काव्य में वे न केवल हमारे जागरण-काल के अग्रदूत थे वरन् उसमें नवीन प्रयोगों का क्रम भी उन्होंने चलाया। हिन्दी में 'सॉनेट (चतुर्दश-पदी—अंग्रेजी कविता) का आरम्भ उन्हींने किया और बड़ी सफलता के साथ किया। महायुद्ध-काल के 'इन्दु' की फाइलें उनके काव्य के नूतन प्रयोगों से भरी हुई है। साहित्य की १६२० के बाद की पीढ़ी को 'इन्दु' का स्मरण नहीं है, इसे हम अपना दुर्भाग्य ही कह सकते हैं पर आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक नई धारा लाने और उसका बौद्धिक नेतृत्व करने का श्रेय 'इन्दु' को दिया जाना चाहिए। 'इन्दु' का स्टैण्डर्ड उस समय की 'सरस्वती' के स्टैण्डर्ड से

बहुत ऊँचा था। उसने इतिहास की गवेषणा के कार्य को उत्तेजन दिया, उसने काव्य के नवीन प्रयोगों को आश्रय दिया, उसने समीक्षा की नवीन प्रणाली चलाई। उसने अनेक लेखक और विचारक भी पैदा किये। मुझे याद है कि इसके ग्राहकों में भारत के अनेक प्रतिष्ठित इतिहासकार और अन्वेषक थे। 'प्रसाद' जी ने ही हिन्दी में मुक्तवृत्त की प्रथा चलाई; 'प्रसाद' जी ने ही सबसे पहले गीति नाट्य लिखे। जब हमारे साहित्य में ऐतिहासिक खोज का भलीभाँति आरम्भ भी न हुआ था, उन्होंने 'चन्द्रगुप्त मौर्य' लिखकर ऐतिहासिक खोज को प्रोत्साहन दिया।

अपनी साहित्य-साधना में उन्होने बौद्ध साहित्य एवं दर्शन से करुणा का बौद्धिक दृष्टिकोण ग्रहण किया और हिन्दू दर्शन एवं उपनिषद्, विशेषतः वेदान्त, से स्थायी एवं विराट् चेतना का आधार लिया। इसके साथ शैव तत्वज्ञान से उनको आनन्द और उत्फुल्लता (Vivacity) तथा उसी के साथ शक्ति के अभेदत्व की अनुभूति प्राप्त हुई। वे नवीन वेदान्तियों के मिथ्या या मायावाद के बड़े विरोधी थे और कहा करते थे कि यह प्राचीन एव वास्तविक वेदान्त का बिल्कुल विकृत रूप है। उनके मत से वेदान्त विश्व को आनन्दमय मानता है और उसी आनन्दमयता की सिद्धि उसका लक्ष्य है। इस प्रकार तीन तत्वज्ञानो से उन्होने अपनी साधना का सूत्र ग्रहण किया था और उसको अपनी बुद्धि एवं चेतना के आलोक में एक उज्ज्वल एवं कल्याणकारी रूप दिया था। उनकी इस साधना का सारा आधार बौद्धिक था, इसलिए दुस्साहसिक—daring—होते हुए और

साधारण दृष्टि से आदर्श-समन्वित होकर भी उसमें वास्तविकता का प्रकाश था। 'प्रसाद' जी की शक्ति का यही कारण था।

× × ×

इस बौद्धिक प्रतिभा और शक्ति के कारण ही 'प्रसाद' जी अनेक संघर्षों को पार कर सके और इसी दृढ़ता के कारण वे वह सब हमें दे सके जो देगये हैं। पर 'प्रसाद' जी ने साहित्य के नाते हमें जो दिया है या उन्होंने जो-कुछ लिखा है उससे वह बहुत ज्यादा और महत्वपूर्ण है जो नहीं लिखा। साहित्य-स्रष्टा तो वह थे और इस हैसियत से साहित्य के इतिहास में उनका स्थान बड़ा ऊँचा है पर मानवीय दृष्टि से भी वह महान् थे। किसी इतिहास में वह अलिखित ही रहेगा और दुनिया उसे जान भी न पायेगी पर इससे उनकी साधना की महत्ता कम नहीं होती। क्या उनका काव्य और क्या उनका जीवन उनकी श्रेष्ठ बौद्धिक धारणा (Intellectual Conception) का सूचक है। इसे बौद्धिक धारणा कहते हुए भी संकोच होता है पर उपयुक्त शब्द के अभाव में मैं उसे इस नाम से पुकार रहा हूँ। मेरा मतलब उस परिष्कृत चेतना से है जो सब चीज़ों में डूब कर देखती और उनका ठीक मूल्य आँक सकती है। जो भावना की आँधी के बीच भी स्थिर रह सकती और फिर भी भावना से रस ग्रहण कर सकती है। उनकी रचना पर और उनके जीवन पर सर्वत्र उनकी बौद्धिक—चेतन—महानता की छाप है। प्रसाद जी जिस वातावरण में उत्पन्न में हुए थे उसमें उत्पन्न होकर दूसरा आदमी जीवन की निम्न वासनाओं का शिकार हो जाता। उनके जीवन के मूल में वैभव, विलास एवं ऐश्वर्य बिछा

था। उससे अपने को बचाते हुए, अपनी शालीनता और सामंजस्यात्मक श्रेष्ठता को न गंवाते हुए उन्होंने अपने को जो बनाया उसका कारण उनकी यही श्रेष्ठ बौद्धिक प्रतिभा थी। इस बात का पता उनके निकट रहने वाले भी बहुत ही कम लोगों को है कि उनको अपने जीवन में पग-पग पर कितना ज़बर्दस्त संघर्ष करना पड़ा था। इस संघर्ष के बीच इतने दिनों तक भी अपने को सँभाल और खे ले जाना उनका ही काम था। प्रसाद जी की रचना और जीवन पर इस दृष्टि से विचार करने की बड़ी आवश्यकता है। वह उन्नीसवीं सदी में पैदा हुए थे और बीसवीं सदी में पनपे थे। इन दो सदियों की सम्मिलित सृष्टि होने के कारण उनके जीवन की दिशा अनिश्चित थी। उनका शिक्षण और उनके सस्कार उनकी-जैसी बौद्धिक प्रतिभा (intellectual genius) के लिए पर्याप्त न थे बल्कि-अधिकाश में प्रतिकूल थे। इनके बीच से अपना मार्ग बना लेना, अपने ढंग पर अपने व्यक्तित्व का विकास कर लेना और साहित्य को जागरण का सन्देश देना तथा उसे एक दृढ़ एवं स्वस्थ आधार पर स्थापित करना बड़ा कठिन कार्य था। पर वह इसमें बहुत दूर तक सफल हुए। उन्नीसवीं सदी के अन्धकार में जहाँ उन्होंने अपने को खो देने से इन्कार किया तहाँ बीसवीं सदी की नये ढङ्ग की मूढ़ता एवं अन्धविश्वासों के आगे भी उन्होंने सिर न झुकाया। संक्रान्ति-काल राष्ट्र एवं व्यक्ति दोनों के जीवन में बड़ा खतरनाक होता है। इस समय प्रायः लोग या तो पिछड़ जाते हैं, या बह जाते हैं। पर उत्कट धारा में अपनी शक्ति से अपने को एक उचित सीमा पर

रोक रखना बहुत ही थोड़े लोगों का काम है। वह, निस्संदेह, हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक प्रतिभा थे।

× × ×

पर ऐसा न था कि संस्कारों एवं परिस्थितियों के प्रभाव से वे एकदम मुक्त हो गये हों। ऐसा संभव न था। इसीलिए हम देखते हैं कि उनकी मनुष्यता जहाँ अपनी बौद्धिक चेतना में बँधी थी; तहाँ कौटुम्बिक एवं सामाजिक परिस्थिति ने उन्हें घोर भाग्यवादी बना दिया था। 'प्रसाद' जी में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के विद्यार्थी को अध्ययन का एक विचित्र 'केस' मिलता है। उनमें अद्भुत द्वैत या द्वन्द्व (duality) के दर्शन होते हैं। तत्वतः और मूलतः उनका दृष्टिकोण बौद्धिक था पर व्यवहारतः वह अपने को भाग्य की गति पर छोड़ देते थे। इस भाग्यवाद का अर्थ निष्क्रियता उतना न था जितना एक निश्चित नियति की अवतारणा। इस नियति पर भी उनका बौद्धिक रंग था। इस तरह हम एक ही मनुष्य में दो बिल्कुल भिन्न अभिव्यक्तियों को देखते हैं और मुझे यह कहते हुए दुःख है कि उनका अपने सम्बन्ध में यह भाग्य के प्रति अप्रतिरोध की भावना ही अन्त में उनकी मृत्यु का कारण हुई। विगत छः महीनों से मैं बराबर उन्हें उपयुक्त इलाज और जलवायु के परिवर्त्तन पर ज़ोर दे रहा था। वह इसकी उपयुक्तता मानते थे पर दूसरों के साथ अन्याय या किसी प्रकार की ज़बर्दस्ती करके अपने जीवन के दिन बढ़ाने को तैयार न हुए। अपने प्रति उनका यह अनाग्रह अद्भुत था और अपनी कमज़ोरी में भी इतनी महानता मैंने बहुत कम लोगों में देखी है। जैसे उन्होंने अपने को

दूसरों की इच्छा और न्याय-बुद्धि पर छोड़ दिया हो; अपने प्रति किसी प्रकार की सहृदयता की भीख किसी से माँगने को वह तैयार न थे। वैसे तो कौन कह सकता है पर मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि उन्होंने अपने प्रति यों विवशता और लाचारी की भावना न दिखाई होती तो अभी उनकी मृत्यु न होती। वह सब को सँभालते हुए उपयुक्त इलाज एवं जलवायु-परिवर्त्तन का आर्थिक बोझ न उठा सकते थे। ऐसा नहीं कि उनके पास साधन न थे। मकान कई थे, जायदाद भी थी। साख उनकी बड़ी थी। एक बार जब मैंने उनको लिखा की, "यों आपको अपने को नष्ट करने का अधिकार क्या है और क्या आपका जीवन आप ही तक है? यदि आप न सँभलेंगे तो मुझे मित्रों से आपकी वास्तविक आर्थिक स्थिति बताकर सहायता लेनी पड़ेगी।" तब उन्होंने कहलाया 'जब मेरा पुत्र है, तब सम्पत्ति पर मेरा क्या अधिकार है कि मैं उस पर कर्ज लूँ?' और प्रस्ताव के दूसरे अंश की तो वह कल्पना ही न कर सकते थे। इस तरह उन्होंने, मेरी समझ से, आत्म-बलिदान ही किया है। ये बातें प्रकट करती हैं कि उन पर उनके चारों ओर के वातावरण, संस्कार, एवं परिस्थिति का भी असर था। पर अपनी चेतना से उन्होंने उसे बहुत दूर तक दबा दिया था। शरीर और मन की दुर्बलता की अवस्था में वे संस्कार फिर ऊपर आगये।

इन सब बातों के होते हुए भी प्रसाद जी ने हमारे साहित्य को जो सबसे बड़ी चीज़ दी है वह साहित्य का बौद्धिक—चेतन—दृष्टिकोण है। यों बहुत-से लोग उन्हें भावात्मक कवि-मात्र समझते हैं पर यह उनको ऊपर-ऊपर से ही देखना है। इस भावना पर सर्वत्र बुद्धि-

वादिता का अंकुश है। उनकी समस्त रचनाओं से एक प्रच्छन्न प्रश्न सदैव उठता है—'ऐसा क्यों होता है?' यह प्रश्न कुछ तो उस दार्शनिक प्रवृत्ति और जिज्ञासा का परिणाम है जो आरम्भ से उनके जीवन में रही है और ज़्यादातर उनके एक विशिष्ट विकसित मनोवैज्ञानिक या बौद्धिक दृष्टिकोण का सूचक है। जो लोग उनके घनिष्ट सम्पर्क में आये हैं उनको मालूम है कि वे घटनाओं और आन्दोलनों से सहज ही प्रभावित न होते थे। यह वह तिनका न था जो हवा के ज़रा-से झोंके में उड़ जाय या पानी की ज़रा-सी तेजी उसे बहा लेजाय। वह सुदृढ़ चट्टान की तरह थे। किसी चीज़, किसी आन्दोलन, किसी वाद के भावनात्मक प्रवाह से, उसके प्रचार या ज़ोर से, प्रभावित न होते थे। घटनाओं या आन्दोलनों के मूल में पैठने की उनमें बड़ी गहरी और पैनी दृष्टि थी। उनका दृष्टिकोण बुद्धि-प्रधान एव शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिकोण था। वेद, उपनिषद्, पुराण सब का अध्ययन उन्होंने मानवता के विकास के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही किया था। उन्होंने जीवन के पिछले काल में जो निबन्ध लिखे हैं, उनमें उनकी किसी चीज़ के अन्तर तक घुस जाने की शक्ति देखकर आश्चर्य होता है। वह किसी बात को इसलिये नहीं मान सकते थे कि उसे लेनिन या मार्क्स या मनु ने कहा है। किसी के कहने न कहने से कोई बात सत्य या असत्य होगी, यह धारणा उनके निकट नितान्त हास्यास्पद थी। उन्होंने मानवी इतिहास की धारा का निरुद्वेग अध्ययन किया था और उन सब प्रयोगों की छान-बीन की थी जो इतिहास में एक-एक करके हो चुके हैं। उनका अब

तक की सस्कृतियों एवं प्राचीन साहित्य का अध्ययन इतना गहरा था कि वह आजकल के उन लोगों को, जो योरप की नूतन सामाजिक धारणाओं को नितान्त सत्य समझ बैठे हैं, देख कर केवल मुस्करा देते थे। यह मुस्कराहट मानो इतिहास के सचित अनुभवों की मुस्कराहट थी। भारतवर्ष, चैल्डिया, सुमेरु की सभ्यताओं में जो सामाजिक प्रयोग हुए थे, उनका सिलसिलेवार वर्णन उनसे सुनकर लोगों की आँखें खुल जाती थीं।

'प्रसाद' जी ने हमारे साहित्य को बहुत कुछ दिया है। उनकी प्रतिभा से हमारा साहित्य धन्य एवं पवित्र हुआ है। उनकी रचनाओं पर कई विस्तृत ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। उन्होंने काव्य को नई दिशा दिखाई, उन्होंने कहानियों को एक नया और मौलिक रूप दिया और अपने नाटकों के द्वारा उन्होंने हमारे साहित्य को बहुत बड़ी चीज़ दी है। ये नाटक केवल नाटक ही नहीं हैं, वरन् उनकी महान् बौद्धिक धारणा और शक्ति के सूचक हैं। ये नाटक ईसा के ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ईसवी सन् की हज़ारवीं शताब्दी तक यानी १२०० वर्ष की हमारी संस्कृति और हमारे सामाजिक प्रयोगों के इतिहास हैं। इनमें हमारे जीवन के उतार-चढ़ाव, हमारे सामाजिक संगठन के प्रयत्नों, हमारी विचार-धाराओं और हमारे जीवन के विभिन्न अंगों के चित्र हैं। इनमें हम अपना गौरव देखते हैं, अपनी महानता के दर्शन करते हैं और फिर वह महानता किन भूलों के कारण, किन परिस्थितियों में और कैसे नष्ट हो गई, इसको भी देखते हैं। वे उस दर्पण के समान हैं, जिनमें हम अपने कैशोर, यौवन और फिर वृद्धावस्था

—जीवन—को देख सकते हैं। उनके नाटक पढ़ने के बाद ऐसा मालूम पड़ता है जैसे हम एक अत्यन्त सजीव और प्रभावशाली चित्रपट को देखने के बाद बाहर निकले हों। फिर सबसे अच्छी बात तो यह है कि क्या नाटक, क्या उपन्यास कहीं भी वह भावनाओं को समस्याओं के हल के रूप में पेश नहीं करते। वह चाहते हैं कि हम घटनाओं की बारीकियों में उतरें; हम मानवी प्रवृत्तियों एवं मनो-रचनाओं का अध्ययन करें।

पर जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इन रचनाओं द्वारा उन्होंने सबसे बड़ी सेवा जो की है, वह यह कि हमारे साहित्य की तीव्र भावना-धारा पर जीवन के बौद्धिक—चेतन—दृष्टिकोण का अकुश लगा दिया है। 'प्रसाद' जी निस्सन्देह हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक प्रतिभा थे। उनके जीवन के इस केन्द्रीय सत्य को देखकर ही हम समझ सकते हैं कि प्रचार के इस युग में, जब सात्विकता भी अख़बारों के सहारे ही रास्ता तै करती है, वह तूफ़ानों एव प्रलोभनों के बीच किस प्रकार अचल रह सके थे। मैंने जीवन में कितने ही महान् पुरुषों के दर्शन किये हैं, पर उनके अन्दर भी—दो-एक को छोड़कर—अपने यश के प्रति वह निस्पृहता और निस्संगता मैंने न पाई, जो प्रसाद जी में थी। हिन्दी में और भी महान् लेखक हुए हैं और आज भी हैं, पर आत्म-प्रचार से इस प्रकार दूर भागनेवाला मुझे दूसरा कोई दिखाई न दिया। 'प्रसाद' जी का व्यक्तित्व बहुत ही कम लेखकों को नसीब होता है, हिन्दी में तो शायद ही किसी को हो। रूप, रंग, स्वास्थ्य, विद्या सब उनके पास थी और जीवन के मध्यकाल में पैसा भी था।

वह अपने लेखों या पुस्तकों से कुछ पारश्रमिक न लेते थे इसलिए प्रकाशकों एवं सम्पादकों द्वारा उनकी रचनाओं का सहज ही काफी प्रचार हो सकता था। हिन्दी के दो-एक प्रकाशकों ने उन पर यह गुरु-मंत्र आज़माना भी चाहा, पर प्रसाद जी पर इन बातों का कभी असर न होता था। प्रसाद जी को प्रचार के इतने साधन प्राप्त थे कि देखकर आश्चर्य होता है कि वह इन सबके बीच कैसे इतने स्थिर रह सके। हम लोग जो उनको निकट से देखते थे, कभी-कभी खीझ तक उठते थे। मुझे तो कई बार उनकी इस सर्वभक्षी तटस्थ वृत्ति पर क्रोध भी आया है पर इन सब बातों का उन पर प्रभाव न पड़ता था। सभा-सुसाइटियों से वह यों भागते थे जैसे वहाँ जाने से उनकी साधना नष्ट हो जायगी। कवि-सम्मेलनों या साहित्य-गोष्ठियों में यदि कभी हम लोग उन्हें घसीट ले जाते तो वह हमसे शर्त करा लेते कि चलकर हम लोग चुपचाप तमाशा देखेंगे, उसमें भाग न लेंगे। जीवन में इस प्रकार की तटस्थ दर्शकवृत्ति उपयोगितावादी दृष्टि से अच्छी हो या बुरी, पर इसे सिद्ध कर लेना आजकल के ज़माने में न केवल कठिन वरन् असंभव-सा है। क्या कारण था कि वह उस हाट में, जहाँ सब चीजे ज़ोर से चिल्लाने से ही बिक सकती हैं या जहाँ प्रदर्शन जीवन-व्यवसाय का प्रधान शास्त्र बन गया है, एक मढ़ैया बना कर इस प्रकार निर्द्वन्द्व रह सके? वह कौन-सी चीज़ थी, जो नाम की, यश की, प्रचार की मेनकाओं के अगणित प्रलोभनों के बीच उन्हें स्थिर रख सकी?

इसका कारण यह था कि जो-कुछ वह लिखते थे वह

भावना के प्रवाह में न लिखते थे। अपनी बौद्धिक महानता से एक नई सृष्टि करना यह उनका क्रम था। भावना इसमें उनकी सहायक-मात्र थी। इसलिए अपनी रचना से जो-कुछ भी वह चाहते थे लिखते ही लिखते पा लेते थे। उसके बाद उसका कैसा स्वागत होता है, बाज़ार में उसके क्या दाम उठेंगे और बाज़ार में मूल्य को ऊँचा कैसे उठाया जा सकता है, इन सब विचारों से वह एकदम अपने को अलग कर लेते थे। इसीलिए इतनी निस्पृहता से, बिना किसी बदले के, वह हमारे साहित्य की सेवा कर सके थे। उनकी साहित्य-साधना के लिए किसी बाहरी उत्तेजक द्रव्य—stimulent—की ज़रूरत न थी। उनका अन्तिम महाकाव्य 'कामायनी' न केवल हिन्दी साहित्य वरन् समस्त भारतीय साहित्य में एक बेजोड़ रचना है। इसमें हम उनको अत्यन्त ऊँचाई पर देखते हैं। मानवी सृष्टि, उसके विकास एवं उसकी स्थिति को लेकर जीवन की जिस महान्, सन्तुलित धारणा एवं सत्य को उन्होंने इस महाकाव्य में विकीर्ण किया है, वह अपनी विशाल कल्पना, दार्शनिक गहराई एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन में अपूर्व है। इसमें जीवन के एक परिपूर्ण तत्वज्ञान का विकास है। काव्य की ऐसी विराट् एवं स्वस्थ कल्पना आधुनिक भारतीय साहित्य में या अधुनिक अंग्रेज़ी काव्य में, तो कहीं दिखाई नहीं देती, अन्य देशों के साहित्यों के विषय में मैं अधिकारपूर्वक कुछ नहीं कह सकता।

यही 'प्रसाद' जी की महानता थी। साहित्यकार तो वह थे, महान् साहित्यकार थे, पर साहित्यकार और भी हैं—आगे और भी होंगे। मेरे निकट वह मनुष्य की हैसियत से और भी महान् थे। और उनका

साहित्य उनके जीवन की विशाल बौद्धिक सम्पत्ति का एक अंश-मात्र है। साहित्य की दृष्टि से लोग जो-कुछ जान सकते हैं, उससे उनके व्यक्तिगत जीवन में जानने-समझने को बहुत था। सच पूछे तो उनकी महानता का अधिकांश प्रच्छन्न रह गया है और 'प्रसाद' जी में जो-कुछ प्रच्छन्न था वह उससे कहीं महान् था जो प्रकट था। इसे हम उनकी एक बहुत बड़ी सिद्धि समझते हैं।

———

[१४]

जयशंकर 'प्रसाद' : एक अध्ययन

[१]

वह झांकी !

महायुद्ध समाप्त हो गया था पर उसके व्यापक दुष्प्रभावों से समाज में एक कराह और एक आह अब भी थी। वे मेरे पनपने के दिन थे और मेरे चारों ओर धुँआँ था। खीझ थी पर असमर्थता भी थी और इसीलिए वह खीझ मेरे लिए और असह्य हो रही थी। भावुकता उड़ाये लिए जा रही थी। पर यह उड़ना मेरा उड़ना न था क्योंकि मेरे अन्दर वह ताक़त मुझे अनुभव न होती थी। एक आध्यात्मिक बेचैनी थी पर उसमें समरसता न थी। मन पर विवेक का अंकुश न था। कल्पना का एक धुँधला, अस्पष्ट पचमेल वातावरण मेरे अन्दर-बाहर चारों ओर फैला हुआ था और जब मैं उसे पाकर .खुश था, वस्तुतः मेरे दम घुट रहे थे।

कुछ संस्कार, कुछ राजनीति, कुछ काव्य, कुछ आध्यात्मिकता की एक खिचड़ी मेरे अन्दर पक रही थी। आध्यात्मिकता कहते हुए भी मै अपने दुस्साहस का अनुभव कर रहा हूँ, क्योंकि उसके विषय में स्पष्ट विचार कर सकने की क्षमता मुझमें न थी पर अन्दर जो एक बेचैनी थी उसके लिए मुझे इससे उपयुक्त दूसरा शब्द नहीं मिल रहा है।

ऐसे १६१६ के वे दिन थे। मैने लिखना शुरू ही किया था। साहित्य में मेरा जन्म गान्धी जी (गद्यात्मक लेख) और ईश-विनय

(पद्य) को लेकर हुआ। ये दोनों धाराएँ आज तक मेरे जीवन में हैं; वे फैलती गई हैं, गहरी होती गई हैं, और उन्होंने मुझे उत्तरोत्तर परिष्कृत किया है और मुझसे परिष्कृत हुई हैं। पर तब ये कोयला थीं—कोयला जिनमें प्रकृति के आलोड़न और उत्ताप से हीरा बनता है, फिर भी व्यवहार और मूल्य में कोयला।

ऐसी मानसिक पार्श्वभूमि को लेकर मैंने उन दिनों पहली बार 'प्रसादजी' के दर्शन किये थे। वह दृश्य मेरी आँखों के सामने बिल्कुल स्पष्ट और ताज़ा है। काशी का सराय गोवर्धन मोहल्ला, वही बरामदे में बिछा हुआ एक तख़्त; कुछ लोगों की बैठक, जिनमें काशी के एक प्रसिद्ध संस्कृत कवि और विद्वान् भी थे, उन लोगों के बीच एक प्रौढ़ युवक—गोरा-चिट्टा, मझोला क़द, गठा हुआ शरीर। एक राजकुमार-सा, पर आँखों में एक जादू और एक रहस्य। यही 'प्रसाद' जी थे।

उनसे बातें तो हुईं पर बात मैंने कम की, दर्शन अधिक। वे आँखें, सारी बातों के बीच रह-रह कर मेरे सामने प्रधान हो उठती थीं। उनमें संसार के प्रति विनोद का एक अद्भुत भाव था। उनमें दुनिया का दर्शन था पर उसके प्रति एक सूक्ष्म हँसी, एक सूक्ष्म और रहस्यमय विनोद भी था। वे जैसे छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे सब में रस लेतीं और फिर भी सबसे अलग, निस्संग थीं।

तब से लगातार अट्ठारह-उन्नीस वर्षों तक मेरी 'प्रसाद' जी के साथ अत्यन्त निकटता रही है। मैंने उन्हें खूब देखा है; हर पहलू से देखा है। उनका शरीर बदलता गया, उनकी परिस्थिति बदलती गई,

उनके चारों ओर का संसार कुछ का कुछ होता गया पर वह दृष्टि ज्यों की त्यों रही—और स्पष्ट होती गई। 'प्रसाद' जी की आँखें उनके जीवन की कुंजी थीं। वे उनमें जो-कुछ महान् था उसकी मूर्तिमान प्रतीक थीं। आज जब वह नहीं हैं, तब भी वे आँखें मेरे सामने हैं!

[२]

जीवन की कुंजी :

यह मैंने वैसे तो एक ज़रा-सी बात कही है पर यह वस्तुतः, तत्वतः बहुत बड़ी बात है। इस छोटी-सी बात में उनका जीवन घनीभूत होकर समाया हुआ है। यह उनके जीवन की कुंजी है। और व्यक्तिगत जीवन में, साहित्यिक जीवन में, सामाजिक जीवन में सर्वत्र उनकी साधना इसी कहने में छोटी पर करने में महान् चीज़ को लेकर चलती रही। हिन्दी को गर्व करने योग्य रचनाओं का दान करते हुए भी कभी साहित्यिक कार्यक्रमों में क्रियात्मक भाग उन्होंने नहीं लिया। वह सभाओं, संस्थाओं, सम्मेलनों से सदा दूर रहे। हम लोग जब उनकी इस रुक्षता, इस बेदिली के लिए उन्हें फटकारते या खीझ प्रकट करते तो वह केवल मुस्करा देते थे। इस मुस्कराहट में शक्ति तो थी पर अहंकार न था। इतना लिखकर और प्रचार के इतने साधनों के होते हुए भी उनका यों अलग रहना, उनकी जीवनव्यापी साधना का अंग था। यह समरसता और निस्संगता की साधना थी, जो प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक थी। इसीलिए दुःख में, सुख में, प्रशंसा में, निन्दा और विरोध में वह

अपनी आनन्द की वृत्ति को समरस और सन्तुलित रख सके थे। किसी की प्रशंसा से उन्हें फूलते मैंने न देखा और किसी की निन्दा से उनके हृदय को विषैला या उत्तेजित होते भी न देखा। जैसे जीवन के अतल से एक शक्ति की धारा निकली हो और स्थान और स्वागत की परवा किये विना अपने गन्तव्य स्थान की ओर चली जा रही हो। जैसा कि मैंने अन्यत्र लिखा है, दुःख में, सुख में समाज में, साहित्य में सर्वत्र आनन्द की साधना ही उनका लक्ष्य था। यह आनन्द सबके प्रति निरपेक्ष और समरस होकर ही प्राप्त हो सकता था। पर यह निरपेक्षता या समरसता दार्शनिक या योगी की निरपेक्षता या समरसता न थी। यह एक गृहस्थ की वह समरसता थी जिसके द्वारा उन्होंने मानवता को एक व्यावहारिक आदर्श का सन्देश दिया था। यह उनके निकट कोई रहस्यमय, दूरस्थ और अप्राप्य आदर्श न था वरन् जीवन का एकमात्र श्रेष्ठ, स्वस्थ एवं कल्याणकारी दृष्टिकोण था। मैंने जीवन में अनेक महात्माओं, और महापुरुषो का साक्षात् किया है—सार्वजनिक रूप से अज्ञात भी और ज्ञात भी। इनमे तीन-चार तो अत्यन्त उच्च कोटि के योगी थे और उनकी अनासक्ति बड़ी ऊँची सीमा तक बढ़ी हुई थी। पर यह बात कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और रस में डूब कर भी, जीवन की अतिव्याप्तियों से अलग रहना, और अपने लक्ष्य और आनन्द में सदा तन्मय रहना, मैंने अपने जीवन में केवल दो ही आदमियों मे देखा है—एक गान्धी जी, दूसरे 'प्रसाद' जी। मैं जानता हूँ कि मैं एक बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ पर मैं उसकी ज़िम्मेदारी समझता हूँ। निस्संदेह इस वृत्ति का

विकास दोनों में अलग-अलग ढंग पर हुआ है; दोनों की साधना और उस साधना की व्यापकता मे भी भेद है पर दोनों में प्रत्येक अवस्था में आनन्द प्राप्त कर सकने की क्षमता दिखाई देती है। गान्धी जी का जीवन व्यक्तिगत कुछ नहीं रह गया है; वह सम्पूर्णतः समर्पित जीवन है। वह निःस्व होकर सर्वस्व हो गये हैं। वह रिक्त होकर पूर्ण हैं। उनकी साधना की पार्श्वभूमि भी विराट् है और इस 'कनवैस' पर जो जीवन उन्होंने चित्रित किया है वह उससे भी महान् है। इसलिए उनका आनन्द उन्हीं तक नहीं रह गया है; उसने लक्ष-लक्ष प्राणों को अपनी आनन्द-साधना में जोड़ लिया है। उनके हृदय का स्पंदन कोटि-कोटि हृदयों में होता है। 'प्रसाद' जी की साधना की पार्श्वभूमि में यह आध्यात्मिकता, यह सर्वस्वार्पण नहीं है। वह किंचित रंगीन, अलंकृत, सामन्ती वैभव से अतिरजित है। इस पार्श्वभूमि या बैक ग्राउण्ड में रंग इतने तीव्र हैं कि उस पर उनके जीवन का चित्र दब गया है; रेखायें साधारण और यों ही सरसरी नज़र डालनेवाले दर्शक को दिखाई नहीं देतीं पर ध्यान से देखने पर यह चित्र, यह जीवन भी अपनी लघु सीमा में अत्यन्त साधनामय और महान् दिखाई पड़ता है।

चिर-काल से ही मनुष्य आनन्द के शोध में विकल है। चाहे कोई 'इज़्म' या 'वाद' हो, सब का लक्ष्य आनन्द का शोध ही है। भेद और सघर्ष पथ और आनद की परिभाषाओं को लेकर हैं। इस विभेद में 'प्रसाद' जी हमें अभेद का सन्देश देते हैं। उनका आनंद कष्ट-साध्य या विश्लेषणात्मक नहीं है। उनका आनंद एक कवि,

एक चित्रकार, एक कलाविद्, एक साहित्यकार का सामञ्जस्यात्मक आनद है—वह आनद जो प्रत्येक वस्तु मे, प्रत्येक पग पर प्राप्य है। यह मंजिल कठिन हो पर हर कदम पर है—यदि हम देख सकें और पा सकें।

[३]

साधना का विकास

चूँकि व्यापक समाज से प्रसाद जी का सम्बन्ध केवल साहित्यकार के रूप में आता है इसलिए उनकी साधना का वह सब अंश जो निजी था, अज्ञात ही रह गया है। यदि हम उसे देख सकते तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते कि समाज ने उन्हें जिस रूप में पाया, जिन रचनाओं में पाया, उससे उनका अज्ञात भाग कहीं श्रेष्ठ और महान् था। किसी प्रसिद्ध जापानी कवि, कदाचित् यून नगोची, ने एक बार लिखा था कि वस्तुतः कवि की सर्वश्रेष्ठ रचनायें तो अलिखित या अमूर्त ही रह जाती हैं और बहुत हुआ तो श्रेष्ठतम के दूसरे दर्जे की (second best) रचनाओं से ही दुनिया का परिचय हो पाता है। इसमें एक महान् सत्य की अवतारणा की गई है। जितने भी चिरन्तन तत्व हैं, साधनों की अपूर्णता या सापेक्षिक पूर्णता के कारण केवल अनुभवगम्य हैं। वाणी, स्वर, लेखनी, रूप, 'स्पिरिट' की झलक-मात्र दे सकते हैं। इसलिए यह आश्चर्य नहीं कि कवि 'प्रसाद' या साहित्यकार 'प्रसाद' से मानव 'प्रसाद' कहीं सुन्दर और श्रेष्ठ, कहीं शिव थे। उनका साहित्य उनकी इस आनन्द-साधना की एक आंशिक अभिव्यक्ति है। यह

केवल उनके जीवन का एक पहलू है। इसमें भी उनकी निजी साधना का ही प्रकाश है और उस साधना को रूप और रग दे देने की चेष्टा है। फिर भी हम सबके सामने उनका यही रूप है; इसलिए हमें मुख्यतः उसी के आधार पर उनको देखना और समझ लेना है।

× × ×

'प्रसाद' जी उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग में पैदा हुए थे। यह वह ज़माना था, जब दुनिया आधुनिकता की तरफ किंचित् बढ़ने लगी थी। उसके ओठों पर एक प्रश्न था, पर पाँव उस प्रश्न के हल होने तक रुकने को तैयार न थे। दुनिया संस्कृतियों के दिन-दिन बढ़ते हुए सघर्ष और नवीन की प्रसव-पीडा से व्यथित थी। भारतवर्ष में प्रभात का सन्देश एक अस्पष्ट प्रतिध्वनि-सा सुनाई पड़ने लगा था। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, थियोसफी, स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ की वाणी ने भारतवर्ष को उठकर अपने को, और अपने चारों ओर, देखने को बाध्य किया। यह हमारे चैतन्य की गोधूली थी। न पूरा अँधेरा, न पूरा उजाला। दोनों के बीच एक धुँधला-सा अपने भविष्य का आभास पर आशाओं और सम्भावनाओं से भरा हुआ। इस जागरण की प्रेरणा के बीच उच्चकोटि के मध्यमगृह का वही आराम और गतानुगतिकता का वातावरण था; आदमी अपने जीवन के सामन्तशाही रूप को लिए चल रहा था। ऐसे ही युग में 'प्रसाद' जी का जन्म हुआ था।

सामूहिक चेतना या जातीय चेतना की यह गोधूली औसत दर्जे के आदमी के लिए बड़ी ख़तरनाक होती है। वातावरण में

संघर्ष और बोझ इतना ज़्यादा होता है कि वह उनसे दब जाता है। उसकी अपनी विशेषता नष्ट हो जाती है। उसके पास स्वयं जगत् को देने को कुछ नहीं रह जाता; व्यक्तित्व का लोप हो जाता है और प्रायः वह मशीन से दब कर निकले हुए एक ही रंग-ढंगवाले सिक्के-सा हो जाता है। वातावरण की छाया-मात्र उस पर रह जाती है; उसका अपना कुछ नहीं बचता।

ऐसे ही संघर्ष और कठिनाइयों के वातावरण में 'प्रसाद' जी पनपे थे। वह मशीन का एक मूल्यवान, पर साधारण सिक्का नहीं बन गये, यह ज़रा-सी बात ही उनकी उस महान् अन्तःशक्ति का प्रमाण-पत्र है जो वातावरण की कठिनाइयों और प्रलोभनों को पार करती हुई आगे बढ़ती गई। वह वैभव के वातावरण में पले। प्रायः वैभव लोगों को निगल जाता है पर प्रसाद जी वैभव के वातावरण में पल कर भी वैभव में विलीन नहीं हो गये। इस विष का पान करते हुए भी उन्होंने अपनी प्रबल क्षमता से उसका असर अपने मानस पर नहीं होने दिया। अपने अमृत से उसे प्रभाव-हीन कर दिया।

प्रसाद जी १२-१३ वर्ष की अवस्था से ही साहित्य की ओर आकर्षित हुए थे। यानी बचपन से ही साहित्य के साथ उनका सम्पर्क होगया था। इसी कारण हम उनकी रचनाओं में उनके बचपन से लेकर उनके अन्तिम जीवन—प्रौढ़ यौवन तक की झलक देख सकते हैं। और उनके जीवन को छोड़ दें तो भी साहित्य मे उनके जीवन और उसके तात्विक आधार का, उनकी साधना का

जो प्रकाश है उससे उसके विकास और, उसकी प्रगति की एक सूक्ष्म रेखा देखी जा सकती है।

'प्रसाद' जी की आरम्भ की कविताओं को लीजिए। उन सब में एक प्रश्न, एक कुतूहल और जिज्ञासा का स्वर है। कवि प्रकृति में, फूलों में, चाँदनी में, नदियों में सर्वत्र किसी महत्तर शक्ति का व्यक्तिगत स्पर्श पाता है। यह सब सनातन पुरुष के सुन्दर और व्यापक शरीर-सा फैला हुआ है। हम कुछ और आगे बढ़ते हैं और देखते हैं अब कवि उस सौन्दर्य पर मुग्ध होने लगा है। उसे अनुभूति तो नहीं पर यह आभास होने लगा है कि यह सौन्दर्य भी उसी महासुन्दर का एक प्रकाश है। चूँकि आरम्भ से ही प्रकृति के मूल में उसने एक पुरुष की झलक देखी है, सारा प्रकृति धीरे-धीरे उसके काव्य में मानव-सापेक्ष्य होती गई है। प्रकृति के तत्व मन की अवस्था के साथ-साथ चलते हैं; वे दुःख में रोते और सुख में हँसते हैं। प्रकृति का विकास मानव के लिए होता है; उसका ह्रास भी मानव के लिए होता है।

प्रकृति-दर्शन की यह मानव-सापेक्ष्यता 'प्रसाद' जी की कविता की एक महत्वपूर्ण कुञ्जी है। यह एक महत्वपूर्ण तत्व है। इससे ससार में चरम भोग और इन्द्रिय-रजन के विचारों को भी बल मिला है। 'ससार हमारे लिए, हमारे भोग के लिए है' यह ग़लत धारणा भी लोगों की बनी है पर तत्वतः यह सिद्धान्त मानव की परम व्यापकता, सर्वभूतों के साथ उसकी अनन्यता की ओर ले जाता है। यह महाप्रकृति के साथ सनातन पुरुष की एक-रसता स्थापित करता है।

यह कहता है—मानव (मानवात्मा) मूलतः आनन्दमय है और यह आनन्द प्रकृति और उसके विकसित एवं व्यक्त रूप, विश्व के साथ समरसता, सतुलन रखने से प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकृति-सापेक्ष्यता के प्रारम्भिक रूप के अतिरिक्त आरम्भ की कविताओं में समाज की प्रचलित विचार-धाराओं एव प्रायः परस्पर-विरोधी अनेक स्वरों की प्रतिध्वनि और झलक भी है। पर ज्यों-ज्यों काव्य की मुख्य धारा आगे बढ़ती गई है, ये चीज़ें दबती गई हैं। 'झरना' तक आते-आते निसर्ग का मानवी रूप स्पष्ट होने लगा है। इसके पूर्व की श्रेष्ठ कृति 'प्रेम-पथिक' में, विकसित होते हुए मानस की पूर्ण आदर्शवादिनी प्रेम-कल्पना है। ऐसी दूसरी चीज़ फिर कवि ने नहीं लिखी और आगे उसका प्रेम काल्पनिक जगत् की आदर्श-वादिता से हटकर इसी संसार की भूमि में दृढ़ हुआ है। 'प्रेम-पथिक' में हम कवि के प्रेम का तात्विक रूप देखते हैं। यह प्रेम का अव्यक्त आदर्श रूप है। इसके बाद 'झरना' में हम इस प्रेम पर किंचित् मांसलता की छाया पाते हैं, फिर भी आदर्शवादी और अव्यक्त प्रेम ही यहाँ प्रधान है। 'आँसू' में यह इस प्रेम के मानवी रूप को और विकसित देखते हैं। यहाँ भावना है पर उस पर अनुभव और विवेक का अकुश है। आदर्श है पर रूप प्राप्त कर वह मांसल भी बना है। कवि के जीवन में तूफान आया है; भयंकर मानसिक संघर्ष और पीड़ा का भार उसे उठाना पड़ा है पर अन्त में आँधी की धूल और पीड़ा का अन्धकार शान्त हो गया है। जीवन की शक्ति बढ़ी है; कवि पहले से अधिक स्वस्थ है। उसने मध्य मार्ग ग्रहण किया है और जीवन के

उतार-चढाव में समरसता की शिक्षा ग्रहण की है। उसके 'आँसू' जीवन को विषाक्त नहीं करते, उसकी जड़ों को सींचते और बल देते हैं। यहाँ विरह मे मिलन और दुःख में सुख है। यहाँ आँसू में, रोदन मे निराशा का मारक दश नहीं; निर्माण की आशा और विश्वास है। यह जीवन की मृत्यु पर विजय है। इस अश्रु-वर्षा में गलत भावनाओं की आँधी की धूल बैठ गई है और मन का आकाश स्वच्छ एव निर्मल हो गया है। 'प्रेम-पथिक' ससार मे कवि के प्रवेश करने या ससार से उसके घनिष्ट सम्पर्क से पूर्व की रचना है और 'आँसू' ससार के घनिष्ट सम्पर्क में आने और हृदय के सघर्ष और आलोड़न के बाद की रचना है। दूसरे में संसार के ताल पर कवि का सम पड़ता है। यहाँ जीवन का एक समतौल हम देखते हैं। यह समतौल अनुभव और सघर्ष का परिणाम है, कोई भावुकता का स्वप्न नहीं।

'आँसू' के कई वर्ष बाद, हम कवि 'प्रसाद' को 'कामायनी' के स्रष्टा के रूप में आते देखते हैं। सचमुच 'कामायनी' एक परिपूर्ण सृष्टि ही है। ऐसी उदात्त धारणा और उस धारणा का ऐसा सुन्दर निर्वाह हिन्दी तो क्या संसार के कम ही काव्यों में मिल सकता है। 'कामायनी' जीवन के मथन का अमृत है। इसमें कवि की साधना का पूरा विकास हुआ है। मानव जीवन जिस आधार को लेकर शिव हो सकता है, जहाँ विभेद नहीं, होड़ नहीं; जहाँ जीवन क्षुद्र खडो में बँटा हुआ एव एकागी नहीं है, जहाँ वह प्रति पग पर सन्तुष्ट, संतुलित आनन्दी और अनाक्रामक है, वह आधार और वह पृष्ठभूमि, वह

संकेत और धारणा हमें 'कामायनी' में मिलती है। 'कामायनी' कवि की जीवन-साधना की परिपूर्णता का प्रतीक है। हमने 'कामायनी' के रूप में एक ऐसी चीज़ पाई है जो असाधारण है और जिसकी धारणा और उठान इतनी गहरी और इतनी ऊँची है कि हम आश्चर्य से अभिभूत हो उठते हैं और शीघ्र हमें उसकी महत्ता की अनुभूति भी नहीं होती।

× × ×

जो बात उनकी कविता में है, वही उनकी गद्य-रचनाओं मे भी प्रकारान्तर से आई है। उनके नाटक और कहानियाँ एक विशेष पृष्ठभूमि पर खड़ी हैं। बौद्धयुग और मध्य हिन्दू-काल के उनके नाटक समाज-रचना का एक आवश्यक उपकरण लेकर हमारे सामने आते हैं। उनमे मूर्च्छित हिन्दू चेतना की विकृति को दूर करने के लिए आवश्यक उपादान सगृहीत किये गये हैं। उनमें नारी और पुरुष दोनो के समुचित सम्बन्ध और एक-दूसरे के प्रति तथा समाज-रचना में उनके कर्त्तव्य का सन्देश है। उनमें बौद्धिक सतुलन द्वारा दुःखो पर विजय का आवाहन है। इतिहास के मौन ध्वंसावशेष यहाँ बोलते और अपने अनुभवों की ओर इशारा करते हैं। उनकी कहानियाँ भी, जो ऊपर से भाव-प्रवणता के ऊपर आश्रित-सी मालूम पड़ती हैं वस्तुतः नर और नारी के स्वस्थ सम्बन्धों की पार्श्व-भूमिका पर चित्रित हुई हैं। और उनमे भी एक मानसिक समरसता का बौद्धिक दृष्टिकोण ही प्रधान है। इस तरह क्या गद्य, क्या पद्य, सर्वत्र कवि 'प्रसाद' की रचना के पीछे जीवन का एक विशेष प्रयोजन है।

यह प्रयोजन निश्चय ही उपदेशक या दार्शनिक का उपदेश या विवेचन नहीं; यह अत्यन्त स्वाभाविक रूप से व्यक्त होनेवाली जीवन की कला है।

[४]

अध्ययन-विश्लेषण

यह सब जो मैं लिख गया हूँ, इससे 'प्रसाद' जी के बारे में एक राय बनाने मे मदद मिल सकती है। और इतना कह लेने के बाद अब हमें समस्या को एक जगह केन्द्रित करके देख लेना और 'प्रसाद' जी को समझ लेना है। पहली बात तो यह कि 'प्रसाद' जी एक साधक होकर भी वादों की शृंखला से आबद्ध नहीं थे। उनकी साधना सच्चे कलाकार की साधना थी; विरागी या योगी की नहीं। उनका अनुभूति का तत्व ग्रहणशील, रसात्मक और आनन्द के प्रति संवेदनशील था। उसमें योगी के विजातीय द्रव्यों के बहिष्करण का क्रम—'प्रासेस आँव एलिमिनेशन'—न था। उसमें ज्ञानी के चिर-विवेचन का आग्रह न था। उसमें कर्म का प्रचण्ड ताप और कोलाहल अथवा भावना का प्रखर उद्वेग भी नहीं था। यहाँ प्रति पग पर शिव की अनुभूति का तत्व था। प्रति पग पर समरसता की अनुभूति की चेष्टा थी। इसमें आत्यतिक त्याग का भाव न था; न आत्यतिक भोग की ही भावना थी। यहाँ त्याग और ग्रहण, योग और भोग, सुख और दुःख, प्रकाश और अंधकार समता की अनुभूति में आबद्ध थे। अथवा यों कि इन सब मे कवि के लिए आनन्द का

तत्व था। सब में उसकी शिव की साधना ओतप्रोत थी।

जीवन के प्रति सच्चे कलाकार का निस्संग होकर सब कुछ चित्रित करने का यह भाव 'प्रसाद' जी की विशेषता है।

कोई इसे भावना की उड़ान, कोई आदर्शवादी प्रवृत्ति, कोई वस्तुवाद बताते हैं। पर असल बात तो यह है कि 'प्रसाद' जी वादों के बन्धन से मुक्त थे या मुक्त रहने की चेष्टा उन्होंने की। उनके लिए आदर्शवाद न सर्वथा मिथ्या था, न वस्तुवाद सर्वथा सत्य था। कला की साधना इस प्रकार बँटी न थी। वह जीवन के प्रत्येक पहलू में तन्मय थी, प्रत्येक से रस और रंग लेती थी, प्रत्येक के प्रति जाग्रत या उद्बुद्ध थी। उस वृक्ष की भाति, जिसके लिए वर्षा और धूप, अंधकार और प्रकाश दोनों आवश्यक हैं, 'प्रसाद' जी ने अपने अस्तित्व से न डिगते हुए प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक दिशा से अपने उपकरणों का सञ्चय किया और फिर उसे अपना एक विशेष रग देकर जीवनमय कर दिया—जैसे कुशल चित्रकार अपनी तूलिका के सहारे साधारण दृश्य पर जड़वत् वस्तुओ को जीवनमय कर देता है। इस प्रकार की स्थिति को यदि हम कुछ कह सकते हैं तो एक साहसिक—'डेयरिंग'—आदर्श ही कह सकते हैं। जो लोग वास्तविकता से आदर्श को बिल्कुल सम्बन्ध-रहित समझते हैं, उनको इससे भले ही आश्चर्य हो पर इसमें आश्चर्य करने-जैसी कोई बात नहीं है। आदर्श कोई जीवन से भिन्न पदार्थ नहीं है; इसीलिए जीवन का आदर्शवादी दृष्टिकोण व्यावहारिक दृष्टिकोण से सर्वथा स्वतंत्र भी नहीं है। दोनो लक्ष्य या मंजिल के सापेक्षिक अन्तर को प्रकट करते हैं। जो चीज़ कल आदर्श

थी, आज साधारण व्यवहार के बीच आ जाती है। जीवन के मार्ग में कल जो आदर्श था, आज हम वहाँ पहुँच जाते हैं और वह आदर्शवादी तत्व वस्तुवादी तत्व में परिणत हो जाता है। जैसे सत्य और कल्पना साधारण व्यवहार में एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत समझे जाते हैं पर वस्तुतः विपरीत नहीं वरन् सम्बन्धित हैं, वैसे ही सच्चे द्रष्टा या कलाकार के लिए आदर्शवाद और वस्तुवाद एक ही जीवन-तत्व के दो अश या पहलू हैं।

इस तरह मैं मानता यह हूँ कि 'प्रसाद' जी ने वादों और गतानुगतिकताओं के बन्धनों को तोड़कर जहाँ से जो रस और रंग अपनी कला के लिए उपयुक्त समझा, ले लिया है। यह उनकी और उनकी कला की दूसरी विशेषता है।

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनकी सारी रचनाओं का आधार उनकी एक विशेष बौद्धिक पृष्ठभूमि है। यह बौद्धिक धारणा उनकी कविता मे भी है, कहानियो में भी है, उपन्यासों में भी है और नाटकों में भी है। इन सबका ढाँचा तो ऐसा है कि सरसरी निगाह से देखनेवालों को इनमें भावना की प्रधानता सर्वत्र दिखाई पडती है और जैसा कि मैंने स्वयं कहीं लिखा है, इनका लेखक स्पष्टतः एक कवि कहानी या नाटक-लेखक-सा मालूम पड़ता है पर इस ढाँचे के नीचे प्राण की जो प्रतिष्ठा की गई है, उसमें भावना की अपेक्षा एक अन्तर्भेदी दृष्टि और एक पैनी बुद्धि को हम हर जगह सजग और प्रश्न करते हुए देखते हैं। भावना की देह भी श्रेष्ठ बौद्धिक प्रतिभा के कारण ही प्राणवान और

जीवित है। भावोद्वेग—'सेण्टीमेण्ट'—के सहारे वे समाज के किसी प्रश्न, मानव की किसी समस्या के हल होने की आशा नहीं करते। ऐसा नहीं कि भावना उनकी दुनिया में अनावश्यक है; नहीं, भावना उनकी दुनिया में बहुत महत्वपूर्ण वस्तु है पर उस पर विवेक और नियंत्रण है।

इसीलिए हमारे साहित्य में 'प्रसाद' जी ने वस्तुतः उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण और ज़बर्दस्त भाग लिया है जितना साधारणतः समझा जाता है। 'प्रसाद' जी केवल ४८ वर्ष की आयु में संसार से चले गये। उनसे कहीं अधिक आयुवाले, साहित्य के आचार्य और गुरुजन, हमारे बीच अब भी विद्यमान हैं। इनमें से कइयों ने हिन्दी की बड़ी भारी सेवा की है और उसके गौरव हैं। पर 'प्रसाद' जी ने हिन्दी की 'स्पिरिट' को बदलने, उसे मोड़ने और स्वस्थ एवं सन्तुलित दृष्टिकोण पैदा करने का जो काम किया है, वह दूसरे किसी से नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण मे जो ग़लत, अस्वास्थ्यकर, अस्पष्ट और अपने आप मे ही उलझा हुआ दृष्टिकोण हिन्दी साहित्य में प्रधानता प्राप्त कर रहा था, उस रसहीन दृष्टिकोण के प्रति पहली बार 'प्रसाद' जी ने विद्रोह किया। उन्होंने पहली बार साहित्य को एक स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टि प्रदान की। पहली बार उन्होंने शृङ्गार को जीवन में उसका उपयुक्त और स्वास्थकर रूप दिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त और प्रसाद ज़ी इनको मै आधुनिक हिन्दी का निर्माता मानता हूँ। इनमें भी भारतेन्दु और 'प्रसाद' जी ने हिन्दी की आधुनिक प्राण-धारा

के निर्माण में सब से अधिक काम किया है। भारतेन्दु ने उसकी ओर संकेत-मात्र किया था, प्रसाद जी उसे अपने भगीरथ प्रयत्नों से साहित्य के मैदान में ले आये। द्विवेदी जी, प्रेमचन्द और मैथिलीशरण का सम्बन्ध, साहित्य-निर्माण के कार्य में, 'फार्म' से, शैली और साहित्य की आकृति से, अधिक रहा है। आश्चर्य तो यह है कि इतना महत्वपूर्ण कार्य करने पर भी, बहुत कम लोग, हमारे साहित्य में 'प्रसाद' जी की इस श्रेष्ठ देन को समझते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि साहित्य के विकास का बड़ा ही विशृङ्खल और असम्बद्ध अध्ययन आजकल हो रहा है; दूसरी बात यह कि इस विद्रोह में भी अपनी प्रकृति के कारण 'प्रसाद' जी कोई ऐसा ज़ोर का धक्का साहित्य को न दे सके कि प्रत्येक आदमी समझ लेता कि एक उथल-पुथल हो गई है। इसका कारण 'प्रसाद' जी का संगठित प्रचार से भागना था।

× × ×

पर जब मैं यह सब कह रहा हूँ तब उनकी कमज़ोरियों को भी भूला नहीं हूँ। पहली बात तो यह कि साहित्य में जिस महान् धारणा—'ग्रैण्ड कन्सेप्शन'—को वह ले आये और जो महत्वपूर्ण विद्रोह साहित्य की प्रचलित रस-हीन पद्धति और शुष्क एवं निष्प्राण होती हुई विचार-धारा के प्रति उन्होंने किया, अपनी एक विशेष मनोरचना के कारण वह उसका बोझ उठाने के सर्वथा उपयुक्त न थे। विद्रोह की सफलता के लिए जिस संघर्ष में प्राणवान हो उठनेवाली मनोवृत्ति की, जिस ज़ोरदार नेतृत्व—Vigorous lead—की आवश्यकता होती है, उसे वह न दे सकते थे। उनका तरीका

चुपचाप काम करते जाने का तरीक़ा था, जिसे विकास का क्रम कहा जा सकता है। इस क्रम से विद्रोह और क्रान्तियाँ नहीं हुआ करतीं, क्योंकि समाज या मानव अपने में इतना मग्न होकर चलता है कि चलते-चलते जबतक उसे गहरा धक्का न लगे वह कोई नया विचार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं समझता। प्रसाद जी में विद्रोह की, एक गहरे परिवर्त्तन की बौद्धिक धारणा तो थी पर उस धारणा को प्रकाशित करने की उनकी प्रणाली या साधन क्रान्तिकारी न थे। इसलिए वह साहित्य के ऊँचे स्तर तक ही रह गई। साधारण लोग आज भी उसे समझ नहीं पाये हैं और साधारण तो क्या बड़े-बड़े समीक्षकों और आचार्यों में भी कदाचित् ही किसी ने उसे ठीक-ठीक समझा हो।

इसमें कुछ तो 'प्रसाद' जी की मनःस्थिति का दोप था और कुछ परिस्थिति की प्रतिकूलता इसका कारण थी। जब मैं प्रसाद जी की मनःस्थिति के दोप की बात कहता हूँ तो मेरा मतलब यह है कि उनकें संस्कार और उनके मन की रचना कुछ ऐसी थी कि वे विद्रोह के किसी क्रियात्मक आन्दोलन का नेतृत्व करने की क्षमता नहीं रखते थे। उनकी निस्संगता की धारणा भी इसमें बाधक थी। निस्संग रहते हुए साहित्य या समाज में कोई विद्रोह खड़ा नहीं किया जा सकता और न साहित्य या समाज को विद्रोह की अनुभूति ही कराई जा सकती है। दूसरी बात यह कि समय और परिस्थिति उनके अनुकूल न थी। जब उन्होने हिन्दी में नई विचार-धारा लाने का प्रयत्न आरम्भ किया, साहित्य कुछ थोड़े से लोगों की चीज़ थी; विनोद

की एक सामग्री। जीवन में उसका प्राधान्य तो क्या, जीवन के साथ उसका घनिष्ट सम्पर्क भी नहीं रह गया था। लोग जीवन की रचना में साहित्य के महान् सन्देश को भूल गये थे। इसलिए प्रसाद जी के प्रयत्नों को ठीक-ठीक समझने और उनके प्रति संवेदनशील होने, उनसे उपयुक्त तत्व ग्रहण करने की मनोदशा हिन्दी की न थी। हिन्दी ऐसे विद्रोह या क्रान्तिकारी विचार के लिए तैयार न थी। हिन्दी भाषी जनता आज भी नवीनता के प्रति सब से अधिक असंवेदनशील है। १६२० के बाद भी उसकी गतानुगतिकता निराला जी के नवीन छन्दों तक के लिए तैयार न थी और मुझे वे दिन भलीभाँति याद हैं जब विरोध और निन्दा का एक तूफान निराला जी पर फट पड़ा था और वह हिन्दी से निराश होने लगे थे। जब हिन्दी 'फार्म' में, ढाँचे मे परिवर्त्तन के प्रति इतनी अनुत्सुक थी तब अन्तःपरिवर्त्तन के लिए, और उससे भी पहले, वह क्यों तैयार होती?

चौथी बात यह कि प्रसाद जी कुछ ऐसी परिस्थितियों को लेकर पनपे थे कि उनके जीवन में और उनके काव्य में भी, कम से कम बाह्यतः, सामन्ती वातावरण (feudal atmosphere) व्याप्त-सा दीखता था। इसलिए थोड़े-से जो लोग मानसिक दृष्टि से उग्र परिवर्त्तन या विद्रोह के लिए तैयार थे वे भी भ्रम में पड़ गए और उनको ठीक-ठीक समझ न सके।

पर मेरा ख्याल है कि एक दृढ़ बौद्धिक आधार को लेकर चलने वाला आदमी स्वभावतः (temperamentaly) क्रान्तिकारी नेतृत्व नहीं कर सकता। क्योंकि विद्रोही मनःस्थिति एकांगी होती है और

जीवन की परिपूर्ण दृष्टि को ग्रहण नहीं कर सकती इसलिए प्रसाद जी ने इस मनोदशा के प्रति कुछ विशेष उत्साह प्रदर्शित नहीं किया और केवल उसके बौद्धिक पक्ष को लेकर ही अपना काम चुपचाप करते गये।

× × ×

'प्रसाद' जी का दूसरा दोष यह है कि उन्होंने शैली को माँजने और परिष्कृत करने की परवा बहुत कम की। उनके चित्रणों मे रग तो खूब हैं, पर 'फार्म' का, आकृति का विकास कुछ बहुत अच्छा नही हो पाया है। प्रेमचन्द की तरह उनकी शैली स्वाभाविक, सुबोध और सादी नहीं है। उसमें रग बहुत ज़्यादा गहरे हो गये हैं और शब्दों के निर्वाचन पर ध्यान बहुत कम दिया गया है। सस्कृत के शब्दों की अधिकता है। यह स्वतः कोई दोष नहीं और मै तो सस्कृत शब्दों को शैली के निर्माण में प्रधान स्थान देनेवालों में से हूँ पर कहीं-कहीं बिल्कुल अप्रचलित शब्द आ जाते हैं और धारा के प्रवाह को एकाएक धक्का-सा लगता है। समस्वरों के बीच विषमस्वर झन-झना उठता है। 'प्रसाद' जी पर सस्कृत साहित्य का प्रभाव इतना है कि हिन्दी कभी-कभी उसके बोझ से दब जाती है और उसका स्वतंत्र अस्तित्व धूमिल पड़ जाता है। हिन्दी व्याकरण के प्रति भी वह कुछ विशेष जागरूक नहीं दिखाई पड़ते। इस जगह उदाहरण देकर विस्तार करने का अवसर नहीं है।

'फार्म' के प्रति यह अनाग्रह 'प्रसाद' जी के व्यक्तिगत जीवन में हमने खूब देखा है। उन्होंने अपनी मालियत, सम्पत्ति बढ़ाने की

कभी क्रियात्मक चेष्टा न की। जो है, सो है, कुछ इस तरह का भाव उनका था। अभाव के बीच भी उनका वही हँसमुख चेहरा, वही आनन्दी स्वभाव रहता। यह कुछ साधारण सिद्धि नहीं थी कि विरोध में, अभाव में, दुःख में और उत्तेजक परिस्थितियों में भी वह अपनी शालीनता और अपनी मृदुता तथा सज्जनता के ऊँचे स्थान से एक क्षण के लिए च्युत न होते थे। अवश्य ही उनके अन्दर कोई ऐसी गहरी शान्ति का स्रोत था, जो उनको हर स्थिति में समरस और स्थिर रखता था। और जैसा कि गाधी जी ने एक बार बातचीत में कहा था, यह एक बहुत बड़ी सिद्धि है।

इसी कारण 'प्रसाद' जी व्यक्तिगत जीवन में इतने मनोहर, इतने प्रेमल और प्रेमयोग्य थे। उनकी सबसे बड़ी प्रशसा जो की जा सकती है, यह कि वह सजनता का नमूना थे और एक श्रेष्ठ संस्कृति के प्रतिनिधि थे। उनका प्रकट और साहित्यिक जीवन जितना महान् था, उससे उनका निजी जीवन कहीं अधिक सुन्दर था।'

× × ×

मैंने वर्षों पहले, एक बार लिखा था कि हिन्दी में केवल 'प्रसाद' जी ही अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से रवीन्द्रनाथ की याद दिलाते हैं। आज वह बात बहुत से लोग कह रहे हैं। मैं यह मानता हूँ कि 'प्रसाद' जी में प्रतिभा और शक्ति रवीन्द्रनाथ से कुछ कम न थी पर अपने यश-विस्तार के लिए रवीन्द्रनाथ-सी सुविधायें या साधन उनके पास न थे। उनकी सबसे बड़ी कमी यह थी कि अंग्रेज़ी भाषा के ऊपर उनका वैसा अधिकार न था; न वह भाषण,

प्रचार, वक्तव्य देने और अधिक से अधिक अपना विस्तार करने की ओर ही विशेष सचेष्ट थे। वह चुपचाप काम करते रहते थे। यात्राएँ करने और अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा हिन्दी या और भाषाओं के विचारकों एवं साहित्य-सेवियों के सम्पर्क में आने की उन्होंने कभी कोशिश नहीं की। उनके निकट के लोग जानते हैं कि इसमें उनका कोई अहंकार नहीं था पर वह कुछ तो स्वभावतः इन बातों के अयोग्य थे और कुछ परिस्थितियाँ इसमें बाधक थीं। इसे मैंने सदा उनकी एक बड़ी 'ट्रेजेडी' समझा है क्योंकि मेरा यह विश्वास रहा है कि यदि उनको उतनी सुविधायें और साधन प्राप्त होते जो रवीन्द्रनाथ को प्राप्त थे तथा हैं तो वे एक भारतीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कवि एवं साहित्य-स्रष्टा के रूप में पूजे जाते। दुःख तो यह है कि विदेशी साहित्यकारों से 'हिपनोटाइज्ड' हम लोगों ने उनकी प्रतिभा की दृढ़ भित्ति और श्रेष्ठता पर गम्भीरता के साथ कभी ध्यान न दिया।

हिन्दी साहित्य की उद्वेग से भरी हुई विषम-धाराओं और तूफानी लहरों के बीच 'प्रसाद' जी जिब्राल्टर की दृढ़ चट्टानों की तरह स्थिर थे और मुझे इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि आनेवाली पीढ़ियाँ उनकी देन की महत्ता को अर्घ्य देंगी।

———

परिशिष्ट

कवि और उसका काव्य

[सम्मतियाँ और श्रद्धांजलियाँ]

"कामायनी रहस्यवाद का प्रथम महाकाव्य है।......हिन्दी के युगान्तर साहित्य के जो तीन प्रजापति हैं, उनमें 'प्रसाद' जी भी एक 'श्रद्धादेवो वै मनुः' हैं।......ऐसी किताब, मनुष्य-मन का इतना अच्छा चित्र, इस समझदारी के साथ चित्रित हुआ, मैंने हिन्दी और बँगला के नवीन साहित्य में नहीं देखा।"

—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

❀ ❀ ❀

"मानस (मन) का ऐसा वास्तविक विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है।"

—नंददुलारे वाजपेयी एम० ए०

('कामायनी' के विषय में)

❀ ❀ ❀

"विषय और भाषा का इतना प्रौढ़ सामंजस्य वर्तमान हिन्दी कविता में दुर्लभ है।......निस्सन्देह 'कामायनी' खड़ी बोली की कविता की प्रौढ़ता का सबूत है।......सस्ती भावुकता से जर्जर वर्तमान हिन्दी काव्य-जगत् 'कामायनी' को पाकर शान्ति और संतोष की साँस लेगा।"

—हज़ारी प्रसाद द्विवेदी,

हिंदी प्रोफेसर, शांतिनिकेतन।

"कामायनी मानव आत्मा के विकट संघर्ष और विजय का महा-काव्य है।......प्रसाद जी प्रकाण्ड विद्वान, अथक साधक हैं। 'कामायनी' की कल्पना कर भी वही सकते थे और उस कल्पना को स्वरूप देनेवाली लेखनी तो शायद इस मातृभाषा के ससार में किसी और के पास नहीं। 'कामायनी' में हिन्दी-काव्य अपने मध्यान्ह को प्राप्त हुआ है।"

—वीरेश्वरसिंह एम० ए०, एल० एल० बी०

❀ ❀ ❀

"वर्तमान् हिन्दी साहित्य-जगत् मे प्रथम वार एक ऐसा काव्य ग्रथ प्रकाशित हुआ है जो विश्व-काव्य कहे जाने की विशिष्टिता रखता है।.....यदि 'प्रसाद' जी की कामायनी का अविकल प्रतिरूप उन्नीसवीं शताब्दी के योरप में प्रकाशित होता तो वे विश्व-साहित्य के शीर्ष-स्थानीय कलाकारों में निर्विवाद रूप से स्थान पा जाते।..... प्रसाद जी इस काव्य में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र अपने उन्नततम तथा चरम रूप में व्यक्त हुए हैं।"

—इलाचंद्र जोशी

❀ ❀ ❀

"कामायनी जीवन की फिलासफी का क्रमिक तथा स्वाभाविक विकास है। उसकी रचना मानवात्मा की एक शाश्वत पुकार को लेकर हुई है।.....कविरूप में वे एक युग के निर्माता थे।"

—विद्याभूषण अग्रवाल बी० ए०

❀ ❀ ❀

"नया युग 'प्रसाद' के पास आया, वढा, अमर भी हुआ और एक ज्योति से सुलगनेवाली दूसरी ज्योति की तरह प्रतिभा के खेल की विविधता में युग के आवेगों और प्रवेगों की दीपावली का त्योहार

मनाया किंतु यह सब कुछ संस्कृति की भाषा में, उपनिषद् की वाणी में।......कहते हैं, कबीर हिंदी के सत्य थे; तुलसी शिव थे और सूर सुंदर थे किंतु 'प्रसाद' सत्य और सुंदर की आँखमिचौनी थे।... साहित्य की सर्वेश्वरी सरस्वती कहीं रहे; उसके रसों का प्राण, उसका आशीर्वाद, उसका 'प्रसाद' हमने यहाँ पाया।"

—माखनलाल चतुर्वेदी

❀ ❀ ❀

"प्रसाद जी की शैली शायद किसी भी हिंदी कवि की अपेक्षा अधिक 'अपनी' है। उनका शब्द-चयन, उनके वाक्यांशों का घुमाव, उनके वाक्यों की रचना, उनके छन्दों का प्रवाह और गति सब अनन्य साधारण होते हैं। वे किसी भी विषय को लाघव के साथ नहीं सोच सकते।"

—हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

❀ ❀ ❀

"हिंदी साहित्य-जगत् में केवल प्रसाद जी ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिनकी तुलना रवीन्द्रनाथ ठाकुर से की जा सकती थी।"

—द्वारकाप्रसाद मिश्र बी० ए०, एल० एल० बी०
(स्वशासन मंत्री, मध्य प्रांत)

❀ ❀ ❀

"प्रसाद जी की प्रतिभा कवीन्द्र रवीन्द्र की तरह सर्वतोमुखी थी।"

—दैनिक 'भारत'

❀ ❀ ❀

"प्रसाद जी हिंदी के सर्वमान्य कलाकारों में थे।...जिस पत्थर को उठाया, वही प्रतिमा बनकर चमक उठी। उनकी प्रतिभा विश्व-

वंद्य और बहुमुखी थी। उनकी रचनाओं में प्रथम श्रेणी की कला के गुण प्रचुर मात्रा में भरे पड़े हैं। उनकी रचनात्मक प्रगति साहित्य की प्रगति थी, उनके जीवन का इतिहास साहित्य का इतिहास।"

—साप्ताहिक 'जनता'

❀ ❀ ❀

"प्रसाद जी हिंदी के आधुनिक जागरण-युग के अग्रदूत थे।"' "'उनकी कला में नवयुग का संदेश था; उनके साहित्य-सृजन में नये संस्कारों की सृष्टि थी।"

—'प्रताप'

"प्रसाद जी हिंदी के रवीन्द्रनाथ थे।"

—साप्ता० विश्वबंधु तथा उदयशंकर भट्ट

❀ ❀ ❀

"प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य के सबसे गंभीर कवि थे।"

—रामकुमार वर्मा एम० ए०
(अध्यापक प्रयाग विश्वविद्यालय)

❀ ❀ ❀

"ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभावाला गंभीर विद्वान् 'युग-पुरुष' ही था।"

—सूर्यनारायण व्यास

❀ ❀ ❀

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी-साहित्य-जगत् में उनकी-सी सुप्रसिद्धि काशी के किसी साहित्यसेवी की हुई, तो 'प्रसाद' जी की ही। आपका घराना 'सुंघनी साहु' कहलाता है। आपके दादा की उदारता और दानशीलता इतनी प्रसिद्ध है और उसके प्रताप से इस परिवार

की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी कि लोग इनके घर के लोगों को देखते ही हाथ जोड़कर 'महादेव' 'महादेव' कहने लगते थे। रास्ते चलते मिलने पर प्रणाम सलाम आदि करने के बदले अभिवादन का यह अनुपम सम्मान काशी में एक तो काशी-नरेश को प्राप्त है और दूसरे 'सुँघनी साहु' को।"

—दैनिक 'आज' (काशी)

"Like Rabindranath Tagore Prasadji was a versatile genius.........Kind and gentle, to know him was to love him."

—LEADER

❀ ❀ ❀

"There is no one among contemporary writers of Hindi, who has contributed with equal distinction to enrichment of our language in such diverse fields as poetry, drama and fiction."

—R. C. TANDON

❀ ❀ ❀

'जय शंकर' कहते-कहते ही अब भी काशी आवेंगे,
किन्तु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का मूर्त्तिमान हम पावेंगे।
तात, भस्म भी तेरे तनु की हिंदी की विभूति होगी,
पर हम जो हँसते आते थे, रोते-रोते जावेंगे॥

—मैथिलीशरण गुप्त